पाणिनीय व्याकरण - तन्त्र, अर्थ और सम्भाषण सन्दर्भ

Pāṇiniya Vyākaraṇa - Tantra, Artha aura Sambhāṣaṇa Sandarbha

L. D. Series : 135

General Editor
Jitendra B. Shah

Vasantkumar Bhatt



L. D. INSTITUTE OF INDOLOGY
AHMEDABAD - 380 009

Pāṇiniya Vyākaraṇa - Tantra, Artha aura Sambhāṣana Sandarbha





L. D. Series : 135

General Editor
Jitendra B. Shah

Vasantkumar Bhatt



L. D. INSTITUTE OF INDOLOGY
AHMEDABAD - 380 009

L. D. Series : 135

•

Pāṇiniya Vyākaraṇa - Tantra, Artha aura Sambhāṣaṇa Sandarbha

•

Vasantkumar Bhatt

•

Published by
Dr. Jitendra B. Shah
Director
L.D.Institute of Indology
Ahmedabad

•

•

First Edition : May, 2003

•

ISBN 81 - 85857 - 17-2

•

Copies : 500

•

Price : Rs. 65/-

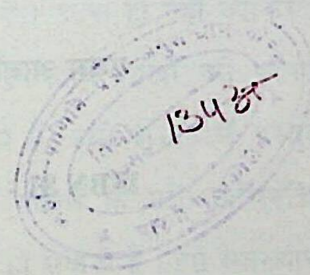
•

Typesetting
Dhrumil Graphics,
Naranpura,
Ahmedabad - 380 013

•

Printer
Manibhadra Printers,
3, Vijay House, Parth Tower, Nava Vadaj,
Ahmedabad - 380 013.

पाणिनीय व्याकरण - तन्त्र, अर्थ और सम्भाषण सन्दर्भ



ला. द. ग्रन्थश्रेणी : १३५

प्रधान संपादक
जितेन्द्र बी. शाह

वसन्तकुमार भट्ट



लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर
अहमदाबाद - ३८० ००९

ला. द. ग्रन्थश्रेणी : १३५

•

पाणिनीय व्याकरण - तन्त्र, अर्थ और सम्भाषण सन्दर्भ

•

वसन्तकुमार भट्ट

•

प्रकाशक
डॉ. जितेन्द्रभाई बी. शाह
नियामक
लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर
अहमदाबाद

•

•

प्रथम आवृत्ति : मे २००३

•

ISBN 81 - 85857 - 17-2

•

प्रति : ५००

•

मूल्य : रु. ६५ /-

•

: टाइप सेटींग :
धुमिल ग्राफिक्स
नारणपुरा, अहमदाबाद - ३८० ०१३.

•

: मुद्रक :
माणिभद्र प्रिन्टर्स
३, विजय हाउस, पार्थ टावर, नवा वाडज, अहमदाबाद - ३८० ०१३.

प्रकाशकीय

पाणीनीय व्याकरण - तन्त्र, अर्थ और सम्भाषण सन्दर्भ ग्रन्थ प्रकाशित करते हुए हम अत्यन्त हर्ष की अनुभूति कर रहे हैं । संस्थान के संस्थापक एवं दीर्घद्रष्टा श्रेष्ठीवर्य श्री कस्तुरभाई लालभाई की पुण्यस्मृति में हमारे संस्थान द्वारा प्रत्येक वर्ष व्याख्यान शृंखला का आयोजन किया जाता है । इस शृंखला में विभिन्न विषयों के विद्वान् व्याख्यान हेतु आमन्त्रित किए जाते हैं । इस वर्ष व्याकरणशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् प्रो. वसन्तकुमार भट्टने हमारे आमन्त्रण को स्वीकार करके पाणिनीय व्याकरण के आधार पर तीन विद्वद्भोग्य व्याख्यान दिए । वर्तमान युग में प्राचीन शास्त्रों का अध्ययन क्षीण हो रहा है । उतना ही नहीं व्याकरणशास्त्र का अध्ययन तो अत्यंत क्षीण हो चूका है । ऐसी स्थिति में भारतीय शास्त्रों की परंपरा को जीवंत रखने हेतु संस्थान द्वारा यत्किंचित् प्रयास किया जा रहा हैं, इसी शृंखलामें प्रस्तुत प्रवचन श्रेणी भी एक है । ऐसे प्रवचनों के द्वारा जिज्ञासुओं की शास्त्रों के प्रति अभिरुचि में वृद्धि होती है वहीं अध्ययन-अध्यापन की धारा भी पुनः जीवीत हो सकती है । इस व्याख्यानमाला का आयोजन भी इसी भावना का साकार रूप है । प्रो. वसन्तकुमार भट्टने व्याकरण जैसे शुष्क शास्त्र को प्रवचन का विषय बनाकर अपने चिंतन को मूर्त स्वरूप प्रदान किया है उसके लिए हम उनके आभारी है । हमें पूर्ण श्रद्धा है कि प्रस्तुत व्याख्यानों से व्याकरणशास्त्र के जिज्ञासुओं को लाभ होगा । इस ग्रन्थ के प्रकाशन कार्य को संपन्न कराने में सहयोगी सभी का आभार ज्ञापित करते हैं ।

जितेन्द्र शाह

ता. ३१.५.२००३

अस्मदीयम्

श्रेष्ठी श्री कस्तुरभाई लालभाई की पावन स्मृति में आयोजित इस व्याख्यान-श्रेणी में मुझे "पाणिनीय व्याकरण-तन्त्र, अर्थ और सम्भाषण सन्दर्भ" विषयक तीन व्याख्यान प्रस्तुत करते हुए परम हर्ष का अनुभव हो रहा है । व्याकरण शास्त्र का अध्ययन-अध्यापन करते समय कदाचित् कोई नूतन विचार-कणिका का अनायास आविर्भाव हो जाता हैं । उसी को लेकर ये व्याख्यान तैयार किये गये हैं । पाणिनीय व्याकरण की एक 'तन्त्र' के रूप में जो आकृति हमारे मनश्चक्षु के सामने आकर दिखाई दे रही है, उस आकृति के विचार के साथ पाणिनीय-विद्वद्वृन्द यदि सम्मति प्रदान करेगा तो यह परिश्रम सार्थक सिद्ध होगा । पाणिनीय व्याकरण में 'अर्थ' के सन्दर्भ में जो कुछ कहा गया है, उस में पूर्वसूरियों का यथावसर ऋण स्वीकार किया गया है । और वार्त्तिककार के अवदान की चर्चा भी नूतन दृष्टि से की गई है । आशा है कि विद्वानों को यह व्याख्यान उपयुक्त प्रतीत होंगें ।

आज मैं मेरे पाणिनीय व्याकरणशास्त्र के विद्याप्रदाता परमश्रद्धेय गुरुवर्य पं. श्री बालकृष्ण पञ्चोलीजी एवं पं. श्री चिमनलाल ज. पण्डया की पावनकारिणी स्मृति को वन्दन करता हूँ । और इस व्याख्यान श्रेणी में अध्यक्ष स्थान पर बिराजमान प्रो. डो. तपस्वी नान्दीजी, डो. भगवती प्रसाद पण्ड्याजी, एवं मेरे प्रियसुहृद् 'सखा' डो. कमलेश कुमार चोक्सी को सादर प्रणामाञ्जलि देता हूँ ।

इस व्याख्यान माला में मेरे पाणिनीय विषयक विचारों को अभिव्यक्त करने का मौका प्रदान करने पर डो. जितेन्द्रभाई शाह का में हृदय से आभारी हूँ । और साथ में प्रकाशन इत्यादि की व्यवस्था में सहयोग देकर प्रो. कानजीभाई पटेलने और युवामित्र डो. दीनानाथ शर्माने भी बड़ा सहकार दिया हैं । मैं इनके प्रति भी आभारी हूँ ।

मेरे छात्रगण को भी आज मैं साधुवाद दे कर, इस शास्त्र का संरक्षण संवर्द्धन करने के लिए प्रोत्साहित करता हूँ । राष्ट्रभाषा में व्याख्यान लिखने का यह प्रथम प्रयास हैं । अतः हिन्दी भाषा की त्रुटियां के लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ ॥

वसन्तकुमार भट्ट
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
गुजरात विश्वविद्यालय,
अहमदाबाद - ३८० ००९

अनुक्रमणिका

ॐ

पाणिनीय व्याकरण : चक्रवत् घूमता हुआ एक तन्त्र

(प्रथम व्याख्यान)

येनाक्षरसमाम्नायम् अधिगम्य महेश्वरात् ।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ॥

0.0 भूमिका :

महर्षि पाणिनि (५००–४०० ईसा पूर्व)ने वैदिक साहित्य में प्रयुक्त एवं लोक में प्रचलित संस्कृत भाषा का सम्पूर्ण एवं अनवद्य ''अष्टाध्यायी'' व्याकरण बनाया है। काशिकाकार कहते हैं कि प्राचीन भारत में 'आकुमारं यशः पाणिनेः ।' (१–४–८९ इत्यत्र महाभाष्यम्) किशोरा–वस्थावाले बालकों तक पाणिनि का यश फैल गया था। यह व्याकरण अपनी अपूर्व एवं अद्वितीय विशेषताओं के कारण आज सारे संसार में सुप्रसिद्ध हो गया है। अतः ''पाणिनिशब्दो लोके प्रकाशते ।'' (२–१–६ इत्यत्र काशिका) यह उक्ति साम्प्रतकालमें भी इतनी ही प्रस्तुत है। **''पाणिनि''** शब्द इस संसार में चिरकाल से प्रकाशमान और अविस्मरणीय भी है।

0.1 पाणिनीय व्याकरणकी विशेषतायें :

पाणिनि का 'अष्टाध्यायी' व्याकरण जिन पाँच विशेषताओं के कारण विश्वप्रसिद्ध बना है, वे इस प्रकार हैं :–

(१) 'अष्टाध्यायी' व्याकरण असाधारण लाघव साधक युक्ति–प्रयुक्तियाँ के साथ लिखा गया है।

(२) लोक में प्रचलित एवं वेद में प्रयुक्त संस्कृत भाषा का युगपद् निरूपण करनेवाला यह एकमात्र व्याकरण है।

(३) वह ''वाक्यसंस्कारपक्ष'' का पुरस्कार करनेवाला (Sentence level का) व्याकरण है।

(४) वह प्रयोगार्ह साधु शब्दों (= वाक्य) का निष्पादक तन्त्र (Generative grammar) है।

(५) एवमेव वह संस्कृतभाषा के वर्णनात्मक प्रकार (Descriptive grammar) का व्याकरण है।

पाणिनि ने अपने 'अष्टाध्यायी' व्याकरण को अनेक तरह से लाघवपूर्ण; असंदिग्ध एवं अस्तोभ बनाने और साथ ही वाक्यसंस्कारपक्ष का पुरस्कार करने के लिए अनेक प्रकार की

युक्ति–प्रयुक्तियों का आश्रयण किया है। जिसके फलस्वरूप उनका व्याकरण, एक 'तन्त्र' (Machine) के रूप में परिवर्तित हो गया है।

0.2 त्रिविध आयामों से "तन्त्र" का निर्माण :

'अष्टाध्यायी' व्याकरण को एक 'तन्त्र' का स्वरूप देनेवाले त्रिविध आयाम निम्नवत् हैं :–

(क) लाघवसाधक युक्ति–प्रयुक्तिओं का प्रयोग :

जिस में प्रत्याहार, अनुवृत्ति, गणपाठ, अनुबन्ध, घि, नदी इत्यादि कृत्रिम संज्ञाओं का परिगणन किया जाता है।

(ख) सूत्रों के पारस्परिक बाध्य–बाधकभाव का निर्धारण :

जिस में (१) अष्टाध्यायी ग्रन्थ का सपाद–सप्ताध्यायी एवं त्रिपादी में विभाजन, अर्थात् सूत्रों के बीच पूर्वत्व–परत्वभाव, एवं सिद्ध–असिद्ध भाव; (२) अन्तरङ्ग–बहिरङ्गभाव और (३) सूत्रों में उत्सर्गापवादभाव इत्यादि निर्धारित किये गये हैं।

(ग) वाक्यनिष्पत्ति की सुदृढ़ प्रक्रिया का प्रदर्शन :

जिस में, वाक्यनिष्पत्ति को प्रमुख उद्देश्य बनाकर सुनिश्चित प्रक्रिया का निरूपण किया गया है एवं तदन्तर्गत, प्राथमिक स्तर पर पदत्व संपादक–विधिओं का प्रदर्शन करते हुए, द्वितीय स्तर पर पदोद्देश्यक–विधियाँ प्रस्तुत की गई हैं।

पाणिनीय व्याकरण के इन त्रिविध आयामों ने ही, उसको एक 'तन्त्र' (word or sentence producing machine) का रूप दे दिया है। यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि इस पाणिनीय व्याकरणतन्त्र के लिए वाक्यनिष्पत्ति ही अन्तिम साध्य या लक्ष्य है। उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए लाघवसिद्धि के उपाय एवं सूत्रों का पारस्परिक बाध्यबाधकभाव प्रकट करनेवाले उपाय केवल साधन स्वरूप ही हैं। प्रस्तुत व्याख्यान में पाणिनीय–व्याकरण का एक 'तन्त्र' के रूप में पूरा परिचय देना अभीष्ट नहीं है; परन्तु इसका चक्रवत् निरन्तर घूमते हुए एक 'तन्त्र' के रूप में परिचय देना ही अभीष्ट है। अतः पूर्वोक्त (क) एवं (ख) बिन्दुओं पर विचार नहीं किया जायेगा।

1.0 पाणिनीय व्याकरण में रूपाख्यान–पद्धति :

प्रथम व्याख्यान में कहा गया है कि पाणिनि का व्याकरण पृथक्करणात्मक नहीं है; बल्कि प्रकृति और प्रत्यय के संयोजन की प्रक्रिया सिखाने वाला व्याकरण है। किसी भी 'वाक्य' में अविनाभाव सम्बन्ध से जुड़े हुए सुबन्त एवं तिङन्त पदों की रूपसाधनिका के जो पाँच सोपान पाणिनीय व्याकरण में दृष्टिगोचर होते हैं वह निम्नवत् हैं :–

(१) सर्वप्रथम विवक्षित अर्थ का प्रदर्शन; अर्थात् प्रत्यय से अभिधेय (अभीष्ट) अर्थ का पूर्व में (in–put के रूप में) निर्धारण । यथा :– √भू सत्तायाम्[7] । या डुकृञ् करणे[7] । (धातुपाठ), वर्तमाने[7] लट् । ३–२–१२३, (अनभिहिते) कर्मणि[7] द्वितीया । २–३–२; अपवर्गे[7] तृतीया । २–३–६, बहुषु[7] बहुवचनम् । ३–४–२१ इत्यादि ॥ इस तरह देखें तो किसी भी 'पद' की रूपप्रक्रिया में 'अर्थ' आरम्भबिन्दु है ।

(२) (द्रव्यादि या क्रियारूप कोशगत) अर्थ की वाचिका प्रकृति एवं लिङ्गवचनादिरूप व्याकरणिक अर्थों के वाचक प्रत्यय की स्थापना द्वितीय सोपान पर की जाती है ।

(३) रूपसाधनिका के तृतीय सोपान पर, स्थान्यादेश–भाव की प्रयुक्ति का आश्रयण किया जाता है, जिसमें प्रकृति के स्वरूप को मध्ये नजर रखते हुए, आवश्यकतानुसार स्थानिभूत साधारण प्रत्यय के स्थान पर, किसी नये आदेश का विधान किया जाता है ।

(४) प्रकृति और प्रत्यय का संयोजन करने से पहले, आवश्यकतानुसार कोई विकरण प्रत्यय या आगमभूत वर्ण का उचित स्थान पर प्रवेश करवाना भी जरूरी होता है । ऐसे आगम–विधान प्रायः चतुर्थ सोपान पर दिखाई देते हैं ।

(५) अन्तिम सोपान पर, प्रकृति और प्रत्यय में, संहिताजन्य ध्वनिपरिवर्तन (ध्वनिविकार) किया जाता है, जिस के फलस्वरूप सुबन्त एवं तिङन्त 'पद' की सिद्धि पूर्णता को प्राप्त करती है ।

* * *

निरुक्तकार यास्क जैसे आचार्यों ने माना है कि भाषा में चार प्रकार के शब्द होते हैं यथा–नाम, आख्यात, उपसर्ग एवं निपात । जबकि महर्षि पाणिनि ने वाक्य के अन्तर्गत दो ही प्रकार के 'पद' माने हैं *(सुप्तिङन्तं पदम् । १–४–१४)* और इन दो प्रकार के पदों की रूपसाधनिका में जो सोपानङ्क्ति है, वह पूर्वोक्त क्रम में (ही) प्रायः दिखाई देती है।

1.1 स्थान्यादेश–भाव की प्रयुक्ति :

साधनिका के उपर्युक्त क्रम में तृतीय स्थान पर जो स्थान्यादेश–भाव की प्रयुक्ति का उल्लेख किया गया है उसको सोदाहरण विशद करने की आवश्यकता है । यथा –

(क) (रूढ) नामवाचक प्रकृति (प्रातिपदिक) को लगनेवाले २१ सामान्य रूपघटक (= रूपिम) प्रत्ययों का परिगणन करते हुए पाणिनि ने एक सूत्र लिखा है :–

स्वौजसमौट् छष्टाभ्याम्भिस् ङेभ्याम्भ्यस् ङसिभ्याम्भ्यस्-ङसोसाम् ङ्योस्सुप् । ४–१–२

धातुभिन्न, प्रत्ययभिन्न, प्रत्ययान्तभिन्न हो ऐसे अर्थवान् शब्दस्वरूप की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होती है ।[1] और सभी प्रातिपदिकसंज्ञक शब्दों को भिन्न भिन्न विभक्तियों में उपर्युक्त सूत्र ४–१–२ में विहित २१ साधारण प्रत्यय लगते हैं, जिनका विश्लेषण निम्नोक्त है :–

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमाविभक्ति	सु	औ	जस्
द्वितीयाविभक्ति	अम्	औट्	शस्
तृतीयाविभक्ति	टा	भ्याम्	भिस्
चतुर्थीविभक्ति	ङे	भ्याम्	भ्यस्
पञ्चमीविभक्ति	ङसि	भ्याम्	भ्यस्
षष्ठीविभक्ति	ङस्	ओस्	आम्
सप्तमीविभक्ति	ङि	ओस्	सुप्

इन २१ साधारण प्रत्ययों को 'सुप् विभक्ति' कहते हैं । यहाँ पर प्रथमा विभक्ति के 'सु' प्रत्यय से, सप्तमी बहुवचन के 'सुप्' प्रत्यय के अन्तिम वर्ण अनुबन्ध 'प्' को जड़ जोड़कर एक 'सुप्' प्रत्याहार बनाया जाता है । यह 'सुप्' प्रत्यय जिन नामों (प्रातिपदिकों) में लगे होते हैं, उन सुप् प्रत्ययान्त नामों को "सुबन्त–पद" कहते हैं । यथा – राम + औ = रामौ ।

नाम (प्रातिपदिक) को लगनेवाले २१ सामान्य प्रत्यय (रूपघटक morphime अर्थात् रूपिम) तो लक्षणकार पाणिनि ने बताये हैं । लेकिन वास्तविक लक्ष्य (अर्थात् प्रयोगावस्था) में तो कोई एक निश्चित अर्थ व्यक्त करने के लिए विभिन्न प्रत्यय (= उपरूपघटक = उपरूपिम) देखने को मिलते हैं । उदाहरण के लिए – पाणिनि ने अपने तन्त्र में *स्वौजसमौट्० । ४–१–२* सूत्र से चतुर्थी विभक्ति–एकवचन का एक ही सामान्य प्रत्यय (रूपघटक) ङे बताया है । परन्तु व्यवहार में (भाषा में) तो इसी अर्थ में (याने चतुर्थी विभक्ति एकवचन में) रामाय, सर्वस्मै, सर्वस्यै, ज्ञानिने, जगते, वाचे, मालायै, नद्यै, कवये–भानवे, तुभ्यम्–मह्यम् जैसे विभिन्न प्रकार के चतुर्थी विभक्त्यन्त पद सुनाई पड़ते हैं । अतः पाणिनि की रूपाख्यान पद्धति को जो अध्येता तार्किक दृष्टि से आत्मसात् करना चाहता है उसी के दिमाग में यह प्रश्न उठेगा

1. अर्थवद् अधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् । पा. सू. १–२–४५.

कि – लक्षण (= ४–१–२ सूत्र) में निर्दिष्ट चतुर्थी विभक्ति एकवचन के /–ङे/ जैसे एक ही सामान्य प्रत्यय से /–य/; /–स्मै/; /–ऐ/; /–यै/; /–ए/; /–अम्/ इत्यादि उपरूपघटक (allomorphimes) कैसे निष्पन्न किये जा सकते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पाणिनि ने एक ही सामान्य रूपघटक (= प्रत्यय) से विभिन्न उपरूपघटक निष्पन्न करने के लिए 'स्थान्यादेशभाव की युक्ति' का प्रयोग किया है जैसे कि –

(१) रामाय :–

रूपप्रक्रिया

राम + ङे

प्रकृति में सम्प्रदान कारकत्व, एवं एकत्व संख्या होने से	तदर्थवाचक चतुर्थी वि० एकवचन का प्रत्यय

राम + ङे

ह्रस्व अकारान्त अङ्ग	स्थानिन् के स्थान में आदेश

↓

राम + य

↑

(यहाँ पर 'स्थानिवद्भाव' से 'ङे' में रहनेवाला सुप् – प्रत्ययत्व, 'य' आदेश में आरोपित होता है ।)

रामा + य

(संयोजन)

= रामाय

विधिसूत्र

(१) *चतुर्थी सम्प्रदाने । २–३–१२* से चतुर्थीविभक्ति का विधान

(२) *स्वौजसमौट्० ।४–१–२* सूत्रोक्त प्रत्यय-शृङ्खला में से चतुर्थी वि० के प्रत्ययों का चयन किया जाता है ।

(३) *ङेर्यः । ७–१–१३* सूत्र से कहा जाता है कि – यदि प्रकृति का स्वरूप "ह्रस्व अकारान्त" है तो, 'ङे' प्रत्यय के स्थान पर 'य' आदेश होता है ।

(४) *स्थानिवद् आदेशोऽनल्विधौ । १–१–५६* सूत्र से 'ङे' प्रत्यय में, अर्थात् स्थानी में, रहनेवाला 'सुप् प्रत्ययत्व' नामक गुणधर्म आदेशभूत 'य' में आरोपित किया जाता है ।

(५) *सुपि च । ७–३–१०२* सूत्र से यञादि सुप् प्रत्यय परे रहते ह्रस्व अकारान्त अङ्ग को दीर्घ होता है । राम → रामा ।

(२) सर्वस्मै :–

रूपप्रक्रिया

सर्व + ०

सर्व + चतुर्थी

सर्व + ङे

प्रकृति में सम्प्रदान-कारकत्व, एवं एकत्व, पुंस्त्व होने से | तदर्थवाचक चतुर्थी-विभक्ति एकवचन का प्रत्यय

सर्व + ङे
स्थानिन्
↓
सर्व + स्मै
आदेश

सर्वस्मै ॥

विधिसूत्र

(१) *सर्वादीनि सर्वनामानि । १–१–२७* सूत्र से 'सर्व' शब्द की सर्वनाम संज्ञा होती है । तत्पश्चात् –

(२) (किसी अध्याहृत क्रिया के प्रति 'सर्व' शब्द का सम्प्रदानकारकत्व होने से) *चतुर्थी सम्प्रदाने । २–३–१२* सूत्र से चतुर्थी विभक्ति का विधान किया जाता है ।

(३) *स्वौजमौट्० । ४–१–२* सूत्र से /–ङे/ प्रत्यय का चयन किया जाता है।

(४) *सर्वनाम्नः स्मै । ७–१–१४* सूत्र से ह्रस्व अ कारान्त 'सर्वनाम' संज्ञक शब्द के बाद आये हुए /–ङे/ प्रत्यय = स्थानि के स्थान में /–स्मै/ आदेश होता है ।

यहाँ हम यह देख सकते हैं कि /–ङे/ प्रत्यय से /–स्मै/ जैसा परिवर्तन लाने के लिए ध्वनिशास्त्र को मान्य हो ऐसा कोई नियम ही नहीं है । ऐसे स्थल पर पाणिनि ने स्थान्यादेशभाव की प्रयुक्ति से काम लिया है । हमें केवल आचार्यवचन से ही /ङे/ के स्थान में /–स्मै/ को बिठाना है !

(३) तुभ्यम् – मह्यम् :

युष्मद् + ङे

प्रकृति में सम्प्रदानत्व एवं एकत्व रहा हुआ है | तदर्थवाचक चतुर्थी-विभक्ति एकवचन का प्रत्यय

युष्मद् + ङे
स्थानिन्
↓
युष्मद् + अम्
आदेश (में 'ङे' बुद्धि)

युष्म द् + अम्
↓
तुभ्य द् + अम्

तुभ्य ० + अम्
परररूप एकादेश होकर

तुभ्यम् ॥

(१) *चतुर्थी सम्प्रदाने । २–३–१२* और

(२) *स्वौजसमौट्० ४–१–२* सूत्र से चतुर्थी विभक्ति एकवचन के /–ङे/ प्रत्यय का चयन किया जाता है ।

(३) *ङे प्रथमयोरम् । ७–१–२८* सूत्र से /–ङे/ के स्थान में /–अम्/ आदेश होता है ।

(४) *स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ ।* सूत्र से स्थानिभूत /ङे/ का गुणधर्म /–अम्/ आदेश में आरोपित किया जायेगा । अतः 'अम्' में 'ङे' बुद्धि करके –

(५) *तुभ्य–मह्यौ ङयि । ७–२–९५* से युष्मद् के मपर्यन्त भाग को 'तुभ्य' आदेश होता है ।

(६) *शेषे लोपः ७–२–९०* से विभक्ति पर में रहते युष्मद् के अवशिष्ट (द्) भाग का लोप होता है ।

(७) अन्त में, *अतो गुणे । ६–१–९७* से पररूप एकादेश हो कर रूपसिद्धि सम्पन्न होती है ।

यहाँ पर भी देखा जा सकता है कि – पाणिनि जब भी किसी ध्वनिशास्त्रीय नियम के आधार पर /–ङे/ प्रत्यय का /–अम्/ रूप में परिवर्तन (या 'युष्मद्' प्रकृति से 'तुभ्य' – ऐसा परिवर्तन) नहीं कर सकते तब स्थान्यादेशभाव की युक्ति का आश्रयण करते हैं । परन्तु महत्त्वपूर्ण बात यहाँ पर यह है कि पाणिनि ने स्थान्यादेशभाव की प्रयुक्ति से

एक ही सामान्य प्रत्यय (रूपघटक) से अनेक उपप्रत्ययों (उपरूपघटकों) का निर्माण करके, एक ही अर्थ को व्यक्त करनेवाले भाषा में प्रचलित, अनेक रूप (पद) सिद्ध करके दिखा दिया है। जैसे –

/–ङे/

(चतुर्थी विभक्ति एकवचन का एक सामान्य प्रत्यय)

१	२	३	४	५	६	७
–ए	–य	–स्मै	–स्यै	–यै	–ऐ	–अम्
जगते	रामाय	सर्वस्मै	सर्वस्यै	मालायै	नद्यै	तुभ्यम्
भगवते	वनाय	अस्मै	कस्यै		चम्वै	मह्यम्

इस प्रकार सप्तविध चतुर्थ्यन्त पद सिद्ध किये हैं। इस तरह से पदनिष्पत्ति की जो तान्त्रिक व्यवस्था पाणिनि द्वारा प्रशस्त की गई है उसमें स्थान्यादेशभाव की प्रयुक्ति महत्त्वपूर्ण है।

लेकिन इस से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है वाक्यनिष्पत्ति की प्रयुक्ति। जैसा कि – डो. एस. डी. जोशीजी (पूर्णे)ने कहा है, पाणिनि ने 'वाक्य' संज्ञाविधायक सूत्र की रचना किये बिना ही, परस्परान्वित ही हो इस तरह के सुबन्त एवं तिङन्त पद की सिद्धि दर्शायी है।[2] तो संक्षेप में अब यह देखना होगा कि पाणिनि ने अपने व्याकरण में वाक्यनिष्पत्ति की किस तरह की तान्त्रिक–प्रयुक्ति का आविष्कार किया है :–

1.2 वाक्यनिष्पत्ति की प्रयुक्ति :

पाणिनि ने **'कारके'** (पा. सू. १–४–२३) का अधिकार करके कर्तृ–कर्मादि विभिन्न कारक संज्ञाओं का विधान किया है। 'कारके' पद सप्तमी में है और वह केवल संज्ञाधिकार न होकर, निमित्ताधिकार (भी) है। एवमेव 'कारके' से विहित संज्ञा अन्वर्थसंज्ञा भी मानी जाती है। अतः 'कारकम्' शब्द का अर्थ "क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्" (जो क्रिया में अन्वित, अर्थात् भागग्रहीता होता है वही 'कारक' कहलाता है) बोधित होता है। इस के परिणाम स्वरूप संसार के किसी

2. **Vyākaraṇa–Mahābhāṣya** (Vibhakyāhnika) Ed. & Trans. by S. D. Joshi & J. A. F. Roodbergen, University of Poona, Pune, 1980 (Introduction p. i, vi to xv).

भी राम, बाण, रावण इत्यादि पदार्थ का सबसे पहले हनन आदि क्रियाविशेष से संलग्न (अन्वित = भागग्रहीता) होना अनिवार्य है। अर्थात् 'कारक' होना अतीव आवश्यक है। तभी राम, बाण, रावणादि पदार्थ 'हनन' जैसी किसी क्रियाविशेष से पौर्वापर्यभाव से संलग्न होंगे और तभी उनकी 'कर्तृ', 'करण' या 'कर्म' (आदि) कारकविशेष संज्ञा हो सकेगी और फिर *कर्तृकरणयोस्तृतीया । २–३–१८, कर्मणि द्वितीया । २–३–२* जैसे विभक्तिविधायक सूत्र प्रवृत्त हो सकेंगे ।[3] (करणकारकसंज्ञक) 'बाण' (प्रकृति) + 'टा' (करणवाचक प्रत्यय); अथवा, कर्मकारकसंज्ञक 'रावण' (प्रकृति) + अम् (कर्मवाचक प्रत्यय ।) इस के बाद रूपसाधनिका आगे बढ़ती है; जिसके फलस्वरूप 'बाणेन' 'रावणम्' जैसे सुबन्त–पद सिद्ध होते हैं ।

वाक्यनिष्पत्ति के एक छोर पर सुबन्त–पद होते हैं, तो दूसरे छोर पर तिङन्त–पद होता है। फिर भी दोनों प्रकार के पद हंमेशा परस्परान्वित होते हैं; परस्पर सापेक्ष होते हैं। अर्थात् तिङन्त क्रियापद से निरपेक्ष रहकर किसी भी सुबन्त पद की रूपसिद्धि सम्भव नहीं है। और सुबन्त (प्रथमान्त) पद से निरपेक्ष रहकर किसी भी तिङन्त पद की रूपसिद्धि नहीं हो सकती । इस विचार को एक उदाहरण से समझना चाहिए :–

"राम रावण को बाण से मारता है" इस वाक्य को संस्कृत में परिवर्तित करने के लिए; मान लिया जाय कि हम पहले अकेले "मारता है (हनन करता है)" – जैसे केवल क्रियापद की सिद्धि करना चाहते है ।

मारता है (क्रियारूपी अर्थ) + वर्तमान काल (रूपी अर्थ)

↓

√हन् + लट् १. वर्तमाने लट् । ३–२–१२३ सूत्र से विहित

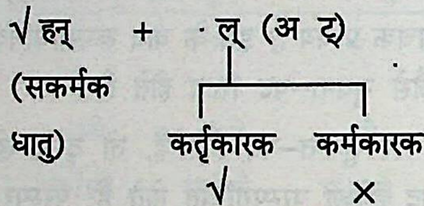
हन् + ल् (अ–ट्, इत्संज्ञक, लोप)

↓

यहाँ पर, किसी भी 'ल्'कार के स्थान में तिबादि १८ (९ परस्मैपदसंज्ञक + ९ आत्मनेपद संज्ञक) प्रत्यय आदेश के रूप में लाने से पहले, एक अन्य विचार करना अतीव आवश्यक है।

3. यद्यपि इन विभक्तिविधायक सूत्रों को प्रवृत्त करने से पहले, "अनभिहिते" (२–३–१) सूत्रोक्त शर्त का पालन हो रहा है कि नहीं यह देखना भी जरूरी है। परन्तु उसकी चर्चा आगे के परिच्छेद में की जायेगी ।

पाणिनि के तन्त्र में *लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः । ३–४–६९* सूत्र पूछता है कि – धातु से उत्तर में आये हुए (कालवाचक) 'ल्' कार को कर्तृकारक का वाचक बनाना है, या कर्मकारक (अथवा भाव) का वाचक ? इस सन्दर्भ में भाषक की विवक्षा (Speaker's desire) क्या है ? यदि वह चाहता है कि – "इस ल् कार से कर्तृकारक रूप अर्थ वाच्य है (= विवक्षित है)"; तो (√हन्) से परे (आये हुए ल् कार के स्थान में) परस्मैपद संज्ञक ९ प्रत्यय आदेश के रूप में प्रवृत्त होने को तैयार हैं । यथा –



← विवक्षा से तय होता है कि यह ल् कार 'कर्ता' का बोध करायेगा ।

तो √हन् + ल् (अ ट्)
स्थानि
↓
(परस्मैपद संज्ञक ९ प्रत्यय)

(प्रथमपुरुष) तिप् – तस् – झि
(मध्यमपुरुष) सिप् – थस् – थ } आदेश
(उत्तमपुरुष) मिप् – वस् – मस्

अब एक स्थानी के स्थान पर अनेक (९) आदेश प्रवृत्त होने पर, यह तिङन्त पद की रूप साधनिका तब तक स्थगित हो जायेगी, जब तक हम 'ल्' वाच्य कर्तृकारक क्या युष्मद् (सर्वनाम) से वाच्य है; या अस्मद् (सर्वनाम) से वाच्य है, अथवा तो तदुभयभिन्न तद्, यद्, इदम् इत्यादि (सर्वनाम) से वाच्य है ? इसका निर्णय नहीं बता पायेगें । क्योंकि, 'ल्' के स्थान पर इन ८ तिबादि प्रत्ययों की युगपत् प्रवृत्ति तो सम्भव ही नहीं है । अतः इन में से किसी एक प्रत्यय की ही पसंदगी करनी पड़ेगी । इस के लिए पाणिनि ने तीन सूत्र दिये हैं :–

(क) *युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः । १–४–१०५*

इस सूत्र के अनुसार तिङ् प्रत्यय से वाच्य जो कारक (प्रकृत उदाहरण में कर्तृकारक) हो वह कारक का वाचक 'युष्मद्' शब्द (√हन् धातु के) उपपद में हो (या न भी

हो, अर्थात् अध्याहृत हो), तब धातु से परे 'मध्यम पुरुष' संज्ञक (सिप् – थस् – थ) प्रत्ययों की पसंदगी की जाय ।

(ख) *अस्मद्युत्तमः । १–४–१०७*

सूत्र के अनुसार – तिङ् प्रत्यय से वाच्य जो कारक (प्रकृत उदाहरण में – कर्तृकारक) हो वह कारक का वाचक 'अस्मद्' शब्द (√ हन् धातु के उपपद में हो या न भी हो, अर्थात् अध्याहृत हो), तो धातु से परे 'उत्तम पुरुष' संज्ञक (मिप् – वस् – मस्) प्रत्ययों की पसंदगी की जाय ।

(ग) *शेषे प्रथमः । १–४–१०८*

सूत्र के अनुसार – तिङ् प्रत्यय से वाच्य जो कारक (प्रकृत उदाहरण में कर्तृकारक– राम) उस कारक का वाचक शब्द यदि 'अस्मद् – युष्मद्' से भिन्न कोई तीसरा ही (यथा– राम रावण को बाण से मारता है) व्यक्ति (वाचक नाम) (√हन् धातु के) उपपद में हो (या न भी हो, अर्थात् अध्याहृत हो), तब धातु से परे 'उत्तम पुरुष' संज्ञक (तिप् – तस् – झि) प्रत्ययों की पसंदगी की जाय ॥

यहाँ ये तीनों सूत्र यह भी कहते हैं कि किसी भी तिङन्त पद की सिद्धि करने के लिए, (प्रकृत में – √हन् + के पीछे आये हुए 'तिप्' इत्यादि ९ प्रत्ययों में से किसी एक का चयन करने के लिए) **यह अनिवार्य है कि** हम अपने मन में पूरे वाक्य की पहले ही अवधारणा करलें । यथा – राम रावण को बाण से मारता है । अन्यथा हम यह कैसे निश्चित कर पायेंगे कि √हन् धातु के उत्तर में रखे हुए + 'ल्' कार से जो कर्तृकारक वाच्य (विवक्षित) था, वह यहाँ अस्मद् वाच्य है, युष्मद् वाच्य है, या तदुभयभिन्न कोई अन्यव्यक्ति ? कहने का तात्पर्य यह है कि – वाक्य की पूर्व अवधारणा करके रखी गई हो तभी उपर्युक्त तीन सूत्रों से पूछे गये प्रश्नों का उत्तर दिया जा सकेगा कि – तिङ् से वाच्य (कर्तृ) कारक वाचक शब्द ('युष्मद् – अस्मद्' से भिन्न) 'राम' है । अतः √हन् धातु के पश्चात् 'प्रथम पुरुष' संज्ञक तिप् – तस् – झि प्रत्ययों की पसंदगी की जानी चाहिए ।

राम	+	रावण को	+	बाण से	+	√हन् + तिप् – तस् – झि
(कर्तृकारक)		(कर्मकारक)		(करणकारक)		

यहाँ पर तिबादि तीन प्रत्ययों में से किसी एक का चयन करने के लिए कर्तृकारक (राम) की संख्या कितनी है – यह देखा जाता है । प्रस्तुत वाक्य में कर्तृकारक 'राम' एक

ही है, इसलिए √हन् + तिप् (एकवचन संज्ञक) प्रत्यय लिया जाता है। *(द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने। १–४–२२ से)* । जिस से 'हन्ति' पद की सिद्धि सम्पन्न होती है।

यहाँ पर, √हन् + तिप् में आये हुए 'तिप्' से 'कर्तृकारक' रूपी अर्थ उक्त (अभिहित) है – ऐसा हमने सब से पहले विवक्षा से ही निश्चित कर लिया था, इसलिए *अनभिहिते। २–३–१* के अधिकार में आये हुए *कर्तृकरणयोस्तृतीया। २–३–१८* से, 'राम' के पश्चात् कर्तृकारकार्थ वाचिका तृतीया विभक्ति उत्पन्न नहीं होती है। बल्कि कर्तृकारक रूपी अर्थ उक्त होने से, केवल प्रातिपदिकार्थ को प्रकट करनेवाली प्रथमा विभक्ति ही, *प्रातिपदिकार्थ–लिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा। २–३–४६* से प्रवृत्त होगी।

राम + सु → रामः (रावणं बाणेन) हन्ति ॥

* * *

इस तरह से यह सुस्पष्ट है कि पाणिनि ने सुबन्त एवं तिङन्त पदों की रूपसिद्धि परस्पर सापेक्ष बताई है। इन दोनों की बुनावट ही ऐसी है कि एक के बिना दूसरे की रूपसिद्धि आगे ही नहीं बढ़ सकती है। दूसरे शब्दों में कहे तो पाणिनि ने वाक्य की निष्पत्ति की जो तान्त्रिक व्यवस्था –

१. कारके। १–४–२३,

२. अनभिहिते। २–३–१,

३. लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः। ३–४–६९ एवं

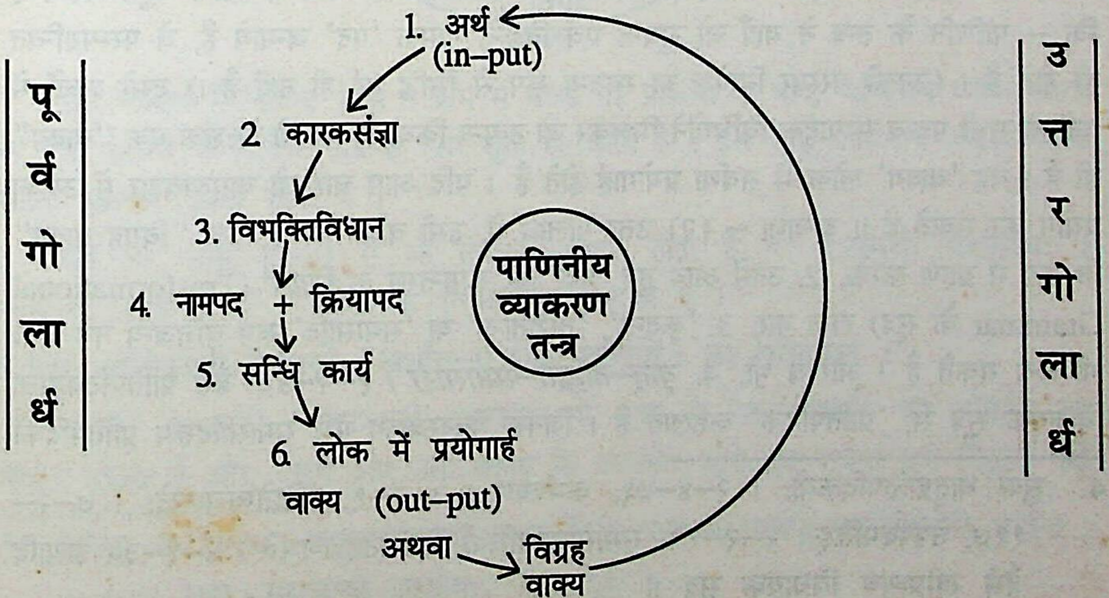
४. युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः। १–४–१०५, अस्मद्युत्तमः। १–४–१०७ तथा शेषे प्रथमः। १–४–१०८

इन चार सूत्रों के द्वारा निर्धारित की है, इस व्यवस्था के अनुसार किसी भी वाक्य की निष्पत्ति में सुबन्त एवं तिङन्त पद परस्पर में अन्वित हों, एवं अविनाभाव से रहे हों तभी उनकी अवतारणा सम्भव है; अन्यथा नहीं। हाँ, यह जरूर कहना चाहिए कि पाणिनीय तन्त्र के माध्यम से केवल प्रथमान्त सुबन्त पद, किसी अन्य तिङन्त पद से निरपेक्ष रहकर भी निष्पादित किया जा सकता है। जबकि कोई भी तिङन्त पद एकाकी, अर्थात् सुबन्त निरपेक्ष, नहीं सिद्ध किया जाता। और इसलिए तो, प्रोफे. एस. डी. जोशी जैसे आधुनिक विद्वानों द्वारा पाणिनि "वाक्यसंस्कारपक्ष" का पुरस्कार करनेवाले वैयाकरण माने जाते हैं।

1.3 वाक्यनिष्पत्ति हो जाने पर 'तन्त्र' का पूर्णविराम नहीं है :

अभी तक हमने जो चर्चा प्रस्तुत की है उसमें पाणिनीय व्याकरण तन्त्र में रूपाख्यान पद्धति के प्रमुख तीन बिन्दु हैं – (१) रूपाख्यान पद्धति में, किसी भी 'पद' की साधनिका में (विवक्षित) "अर्थ" को आरम्भ बिन्दु पर ही (input के रूप में) स्थापित किया गया है। (२) नामपद या क्रियापद की रूपसिद्धि करने के लिए पाणिनि ने सर्व प्रथम प्रातिपदिक मात्र को लगनेवाले २१ साधारण 'सुप्' प्रत्यय एवं क्रियावाचक धातुमात्र को लगने वाले १८ 'तिङ्' प्रत्यय का परिगणन प्रस्तुत करने के बाद; स्थान्यादेश भाव की प्रयुक्ति से एक ही सामान्य विभक्त्यर्थ को अभिव्यक्त करनेवाले एक ही सामान्य प्रत्यय को अनेक उपप्रत्यय (उपरूपघटक) में परिवर्तित करके दिखाये हैं। और (३) पाणिनीय सूत्रों से केवल पूरे 'वाक्य' की ही निष्पत्ति हो सकती है। उसको हमने विशद किया है।

परन्तु पाणिनीय सूत्रों से 'वाक्य' की निष्पत्ति हो जाने के बाद इस व्याकरण "तन्त्र" की गतिविधि पूर्ण नहीं हो जाती है। पाणिनि का व्याकरण–तन्त्र तो चक्रवत् निरन्तर घूमता हुआ एक 'तन्त्र' (Rotative Machine) है। अब तक इस तन्त्र की 'अर्थ' से लेकर वाक्यनिर्मिति पर्यन्त की जो कार्यप्रणाली बताई गई है, उससे एक पूर्ण गोलाकार का केवल पूर्वगोलार्ध ही बनता है। तद्यथा –



इस अर्ध गोलाकार में निर्दिष्ट कार्यों से जो 'वाक्य' की; और वाक्य के अन्तर्गत आनेवाले विविध सुबन्त एवं तिङन्त पदों की सिद्धि होती हैं, वे तो केवल **''पदत्वसम्पादक''** कार्य हैं। अब, इस गोलाकार का जो अवशिष्ट उत्तर गोलार्ध है उस में पाणिनीयतन्त्र फिर से गतिशील हो कर कृत्–तद्धित–समासादि वृत्तिजन्य पदों का निर्माण करता है !

2.0 तन्त्र के उत्तर गोलार्ध में 'पदोद्देश्यक विधिओं' का प्रदर्शन :

हमारे विचार से पाणिनीय व्याकरण–तन्त्र चक्रवत् घूमता हुआ एक तन्त्र है। जिसके परिणाम स्वरूप दो तरह की प्रवृत्तियाँ निरन्तर होती रहती हैं। पूर्व गोलार्ध में, जो विधियाँ होती हैं वे 'पदत्वसंपादक–विधियाँ' हैं। और उत्तर गोलार्ध में, जो विधियाँ होंगी वे 'पदोद्देश्यक–विधियाँ' कहलायेंगी। जैसे कि –

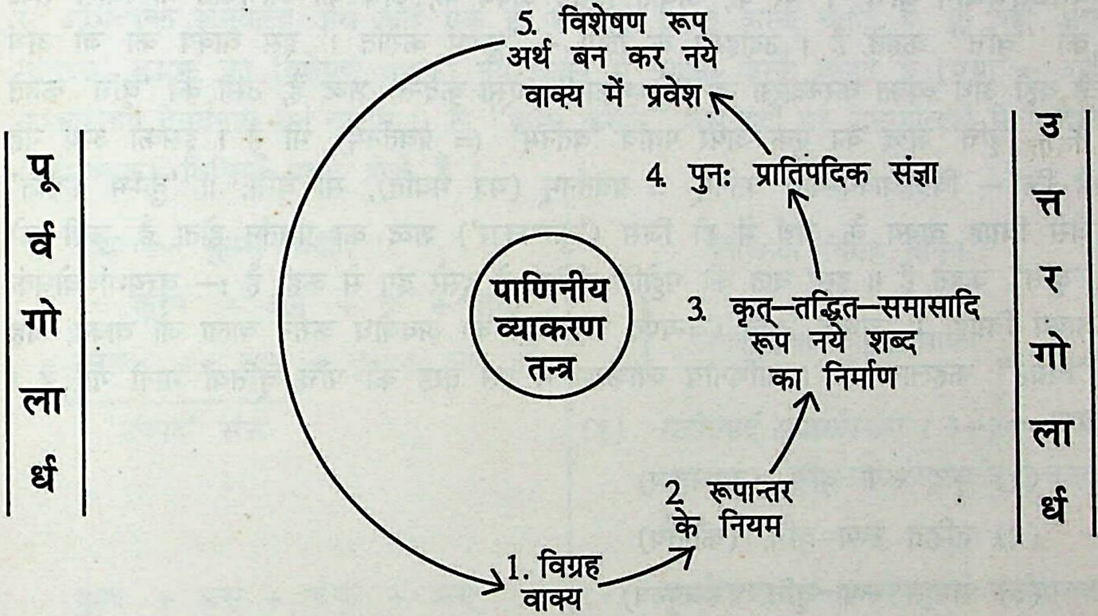
(१) पूर्व गोलार्ध में, तन्त्र के आरम्भबिन्दु पर रखे गये 1. 'अर्थ' से शूरू होकर क्रमशः 2. विभिन्न कारकसंज्ञायें, 3. अलग–अलग विभक्ति प्रत्ययों का विधान, (आवश्यक स्थान्यादेश का कार्य, प्राप्त ध्वनिविकार हो जाने के बाद प्रकृति + प्रत्यय का संयोजन करने से), 4. विभिन्न ''सुबन्तपद'' एवं (एक) ''तिङन्त पद'' की रूपसिद्धि पूर्ण होगी। इसी प्रक्रिया को पदत्व–संपादक–विधियाँ कही जायेंगी। 5. इसके बाद दो पदों के बीच में भी जो आवश्यक सन्धिकार्य प्राप्त होंगे उन्हें भी निपटाया जायेगा। 6. जिसके फलस्वरूप अन्त में लोक में प्रयोगार्ह हो ऐसा वाक्य निष्पन्न हो कर बाहर निकलता है। हालांकि यह ध्यान में रखना बहुत जरूरी है कि – पाणिनि के तन्त्र ने यहाँ जो सुबन्त एवं तिङन्त नामक 'पद' जन्माये हैं, वे परस्परान्वित ही होते हैं। (उनकी परस्पर निरपेक्ष या स्वतन्त्र रूप से सिद्धि हुई ही नहीं है।) दूसरे शब्दों में कहें तो सभी पदत्व सम्पादक विधियोंने मिलकर जो उत्पन्न किया है, वह तो निःशंक एक ''वाक्य'' ही है। यह 'वाक्य' लोक में सर्वथा प्रयोगार्ह होते हैं। यदि आप चाहें तो वाग्व्यवहार में उसका प्रयोग कर सकते हैं॥ अन्यथा – (२) उत्तर गोलार्ध में, उसी वाक्य का 1. एक ''विग्रह वाक्य'' के रूप में ग्रहण करके, 2. उनमें आये हुए 'पदों' पर रूपान्तरण के नियम[4] (Trasformational Grammar के सूत्र) लगा कर, 3. 'कृदन्त', 'तद्धितान्त' या 'समासादि' रूप वृत्तिजन्य नये शब्द भी बना सकते हैं ! और वे भी, 4. *कृत्–तद्धित–समासाश्च। १–२–४६* जैसे प्रातिपदिकसंज्ञा विधायक सूत्र से, 'प्रातिपदिक' कहलाते हैं। जिनके फलस्वरूप ऐसे समासादिरूप प्रातिपदिकों

---

4. सुपो धातुप्रातिपदिकयोः। २–४–७१, कर्मण्यण्। ३–२–१, तद्धितेष्वचामादेः। ७–२–११७, उपपदमतिङ्। २–२–१९, समासान्तविधियाँ, एवं टिड्ढाणञ्०। ४–१–३५ इत्यादि जैसे स्त्रीप्रत्यय विधायक सूत्र॥

से परे, सुप् विभक्ति प्रत्यय उत्पन्न होने का अवकाश पैदा होता है। 5. अब ऐसे कृदन्त, तद्धितान्त, समासादि रूप वृत्तिजन्य शब्द (एक नये विवक्षित वाक्य में) किसी न किसी कारक का अभेदमूलक विशेषण रूप 'अर्थ' बन कर प्रविष्ट हो जायेंगे।

जैसा कि – निम्न चित्र से दिखाई दैता है :–



उत्तर गोलार्ध में निर्दिष्ट 1 से 5 क्रम में बताई गई प्रक्रिया के बाद, पाणिनीय व्याकरणतन्त्र के पूर्व गोलार्ध में निर्दिष्ट प्रक्रिया फिर शूरू हो जाती है! इस तरह पाणिनीय–व्याकरणतन्त्र सतत चक्रवत् घूमता रहता है।

यहाँ पर, उत्तर गोलार्ध में जो विधियाँ प्रस्तुत होती है वे (**समर्थः पदविधिः**। **२–१–१** सूत्रनिर्दिष्ट)[5] "पदोद्देश्यक विधियाँ" कहलाती है।

2.1.0 पदोद्देश्यक विधियों (अर्थात्–पञ्चधा वृत्तियों) का परिगणन :

पाणिनि ने अपने 'अष्टाध्यायी' व्याकरण में एक तो वाक्यनिष्पत्ति की प्रक्रिया का प्रदर्शन किया है और, दूसरी ओर उसी वाक्य के अन्तर्गत आये हुए सुबन्त एवं तिङन्त पदों

5. केचित्तु **पदोद्देश्यकः पदत्वसंपादको** वा सर्वोऽपि पदसम्बन्धित्वात् पदविधिरेवेति वदन्ति। २–१–१ इत्यत्र **महाभाष्ये उद्द्योतः**, पृ. ३१३.

के ऊपर कुछ अन्य प्रक्रिया करके, कैसे नये शब्द बनाये जाते हैं ? वह भी निरूपित किया गया है ।

पाणिनीय व्याकरण में सुबन्त एवं तिङन्त पदों को उद्देश्य करके जो विधियाँ बताई गई हैं, उन्हें "वृत्ति" कहते हैं । 'वृत्ति' का व्याख्यान करते हुए महाभाष्य में लिखा गया है कि – **परार्थाभिधानं वृत्तिः** ।[6] पर के, अर्थात् विग्रह वाक्य के, अर्थ का अभिधान करनेवाले शब्द को "वृत्ति" कहते हैं । उदाहरण के लिए – 'कुम्भं करोति ।' इस वाक्य का जो अर्थ है वही अर्थ व्यक्त करनेवाला जो "कुम्भकार" (ऐसा कृदन्त) शब्द है, उसी को 'वृत्ति' कहते हैं ॥ 'वृत्ति' शब्द का एक अपर पर्याय 'वर्तनम्' (= प्रवर्तनम्) भी है । इसका अर्थ यह है कि – विग्रहवाक्यस्यार्थे वर्तनम् = प्रवर्तनम् (यत्र भवति), सा वृत्तिः ॥ 'कुम्भ करोति' जैसे विग्रह वाक्य के अर्थ में ही जिस ('कुम्भकार') शब्द का प्रवर्तन होता है, उसी को "वृत्ति" कहते हैं ॥ इसी बात को भट्टोजि दीक्षित ने दूसरे ढंग से कही है :– वृत्त्यर्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः ।[7] अर्थात् 'वृत्ति (जन्यपद के) अर्थ का अवबोध कराने वाला जो वाक्य, वह "विग्रह" कहलाता है' । पाणिनीय व्याकरण में इस तरह की पाँच वृत्तियाँ मानी गई हैं । यथा –

(१) कृद् रूपा वृत्ति, (कुम्भकार)

(२) तद्धित रूपा वृत्ति, (कौन्तेय)

(३) समास रूपा वृत्ति, (राजपुरुष)

(४) एकशेष रूपा वृत्ति, (पितरौ) और

(५) सनाद्यन्ता धातुरूपा वृत्ति । (पिपठिषति)[8]

---

6. **(भाष्यम्)** अथ ये वृत्तिं वर्तयन्ति, किं त आहुः । (अत्र प्रदीपः) अथेति । कार्यशब्दिका वाक्यादेव विकल्पेन वृत्तिं निष्पाद्यां मन्यमानाः किं वृत्तेर्लक्षणं कुर्वन्तीति प्रश्नः । **(भाष्यम्)** परार्थाभिधानं वृत्तिरित्याहुः । (प्रदीपः) परस्य शब्दस्य योऽर्थस्तस्याभिधानं शब्दान्तरेण यत्र सा वृत्तिरित्यर्थः ॥ द्रष्टव्यम्–२–१–१ इत्यत्र **व्याकरण–महाभाष्यम्,** (प्रथमो भागः), प्रका. मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, १९६७, पृ. ३२८.

7. **द्रष्टव्यः वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी,** (इत्यत्र सर्वसमासशेषप्रकरणम्–२० ॥) (द्वितीयो भागः) सं. पं. बालकृष्ण पञ्चोली, चौखम्बा संस्कृत सीरिझ ऑफिस, वाराणसी, १९६९, (पृ. १०१).

8. तत्रैव, कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्चवृत्तयः ॥ पृ. १०१.

2.1.1 कृद् रूपा वृत्ति (कृदन्त रचनायें) :

पाणिनीय व्याकरण–तन्त्र के पूर्वगोलार्ध के सूत्रों से – (देवदत्तः) कुम्भं करोति । जैसा कोई वाक्य निष्पन्न हो जाता है । आप चाहें तो, इस 'वाक्य' को तन्त्र से बाहर निकाल कर भाषा में उसका प्रयोग कर सकते हैं । परन्तु यदि आप 'कुम्भं करोति' जैसे दो शब्दों से अभिव्यक्त होनेवाला अर्थ कोई एक ही शब्द से व्यक्त करना चाहते हैं; या वही अर्थ 'देवदत्त' कारक का विशेषण बनाकर नये वाक्य में प्रयुक्त करना चाहते हैं (यथा – अहं कुम्भकाराय देवदत्ताय धनं ददामि ।) तो "कुम्भं करोति" जैसे पदों पर, उत्तरगोलार्ध में निर्दिष्ट (पदोद्देश्यक) विधियाँ प्रवृत्त होती हैं ।

यथा :– कुम्भं करोति । — लौकिक विग्रह वाक्य

(= कुम्भ + अम् + कृ + लट्)
कुम्भ + ङस् + कृ + अण् ।।[9] — } अलौकिक विग्रह वाक्य

(कुम्भ + ङस् : 'उपपद' संज्ञा)

(१) *तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् । ३–१–९२* से 'कुम्भम् = कुम्भस्य' उपपदसंज्ञक बनता है ।

कुम्भ + ङस् + √कृ (धातु) + अण् ↓ 'कृत्' संज्ञक प्रत्यय

(२) *कर्मण्यण् । ३–२–१* सूत्र से कर्मवाचक शब्द उपपद में रहे तब, धातु से /–अण्/ प्रत्यय लगता है ।

कुम्भ + ङस् + कृ + अ(ण्)
↓
वृद्धि
क् आर् + अ०

(३) *अचो ञ्णिति । ७–२–११५* से, णित् प्रत्यय परे रहते वृद्धि होती है ।
(ऋ > आर्)

---

9. यहाँ *कर्तृकर्मणोः कृति । २–३–६५* से, 'कुम्भम्' जैसे कर्मकारक वाचक पद में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग करना आवश्यक है । क्योंकि अब कृदन्त रचना में, 'करोति' के स्थान पर 'कृ + अण् = कार' का प्रयोग होनेवाला है ॥

कुम्भ + ङस् + कार

उपपद कृत्प्रत्ययान्त

उपपद–समास (संज्ञा)

कुम्भ + ङस् + कार

'प्रातिपदिक' संज्ञा

कुम्भ + ० + कार

= कुम्भकार ॥

(४-१) *प्राक्कडारात्समासः । २–१–३* के 'अधिकार' में –

(४-२) *उपपदम् अतिङ् । २–२–१९* से, उपपद सुबन्त का समर्थ पद के साथ समास होता है ।

(५) *कृत्तद्धितसमासाश्च । १–२–४६* से, 'समास' की प्रातिपदिक संज्ञा होती है।

(६) *सुपो धातुप्रातिपदिकयोः । २–४–७१* से, 'प्रातिपदिक' के अवयवभूत 'सुप्' प्रत्यय का लुक् होता है ।

(७) कृदन्त शब्द की सिद्धि पूर्ण हुई ॥

यहाँ दो–तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं :

(क) पञ्चधा वृत्ति के प्रसङ्ग में पाणिनि ने 'विग्रह वाक्य' को अन्तःस्तरीय रचना के रूप में स्वीकार किया है । यहाँ विग्रहवाक्य को ही रूपान्तरित करके एक नये शब्द के रूप में परिवर्तित करने की प्रक्रिया का पुरस्कार किया गया है ।

यहाँ आरम्भ में 'कुम्भं करोति' जैसा जो विग्रह वाक्य लिया जाता है, उसमें एक सुबन्त–पद है, तो दूसरा तिङन्त–पद है । अतः इन दो 'पदों' को उद्दिष्ट करके ***कर्मण्यण् । ३–२–१*** इत्यादि सूत्रों से जो विधियाँ होती हैं, उन्हें ही "पदोद्देश्यकविधियाँ" कही जाती है ।

(ख) उपर्युक्त कृदन्त–रचना में, जो रूपान्तरण के नियम है वह – (१) तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् । (२) कर्मण्यण् । (३) उपपदमतिङ् । (४) कृत्तद्धितसमासाश्च । (५) एवं सुपो धातु-प्रातिपदिकयोः । हैं ।

(ग) यहाँ "देवदत्तः कुम्भं करोति' → में से "देवदत्तः कुम्भकारः ।" हो जाने पर; अर्थात् तन्त्र के उत्तर गोलार्ध के सूत्र प्रवृत्त हो जाने के बाद, व्याकरणतन्त्र की कार्यप्रणालि पूर्ण हो जाती है – ऐसा भी नहीं है ! यही 'कुम्भकार' जैसा कृदन्त–प्रातिपदिक तैयार हो जाने के बाद, कोई एक नये विवक्षित वाक्य में वह विशेषण रूप अर्थ बनकर

प्रविष्ट हो सकता है; और फिर से तन्त्र के पूर्व गोलार्ध में निर्दिष्ट सूत्रावली क्रियाशील हो कर विभिन्न कारकसंज्ञा → विभक्तिविधानादि रूप कार्य शुरू कर देती है ! यथा :— 'अहं कुम्भकाराय देवदत्ताय धनं ददामि ।' इत्यादि ॥

2.1.2 तद्धित रूपा वृत्ति :

किसी नाम के अर्थ में हित करनेवाला (अर्थात् कुछ नया अर्थ जोड़नेवाला) जो प्रत्यय होता है उसको 'तद्धित' (तस्मै = प्रकृत्यर्थाय हितम् = तद्धितम्) प्रत्यय कहते हैं । यथा — उपगोः अपत्यं (गच्छति) । → औपगवः (गच्छति) ।

अब 'औपगवः' जैसे तद्धितान्त शब्द की प्रक्रिया देखते हैं :—

उपगोः अपत्यम् (गच्छति) ।

उपगु + ङस् + अपत्य + अम्

↓

उपगु + ङस् + अण्

तद्धितान्त शब्द

उपगु + ङस् + अण्

प्रातिपदिक—संज्ञा

उपगु + ० + अण्

उपगु + अ(०)

औपगु + अ

औपगो + अ

औपग् अव् + अ

= औपगव ॥

एक लौकिक विग्रह वाक्य

(अलौकिक विग्रह वाक्य)

(१) *समर्थानां प्रथमाद् वा ।* ४—१—८२ सूत्र के अधिकार में आये हुए —

(२) *तस्यापत्यम् ।* ४—१—९२ से षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'अपत्य' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है ।

(३) *कृत्तद्धितसमासाश्च ।* १—२—४६ से तद्धितान्त शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा होती है ।

(४) इसके फल स्वरूप — *सुपो धातुप्रातिपदिकयोः ।* २—४—७१ से प्रातिपदिक के अवयवभूत 'सुप्' का लुक् होता है ।

(५) *हलन्त्यम् ।* १—३—३ से 'ण्' की इत्संज्ञा, लोप । णित् प्रत्यय पर में रहते ।

(६) *तद्धितेष्वचामादेः ।* ७—२—११७ से आदि अच् की वृद्धि ।

(७) *ओर्गुणः ।* ६—४—१४६ से 'गु' के 'उ' का गुण ।

(८) *एचोऽयवायावः ।* ६—१—७८ से अव् आदेश ।

यहाँ पर ध्यानास्पद बातें निम्नोक्त है :–

(क) पाणिनि ने जो *समर्थानां प्रथमाद् वा । ४–१–८२* के अधिकार में, सभी तद्धित प्रत्ययों का विधान किया है, उस सूत्र में आया हुआ 'वा' पद अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि – उस विकल्पार्थक 'वा' शब्द से दोनों तरह की अभिव्यक्ति को मान्यता प्रदान की गई है। यथा – "उपगोः अपत्यं (पुमान्) गच्छति।" कहो, अथवा "औपगवः गच्छति।" कहो, उसमें कोई अन्तर नहीं है। (हाँ, यह जरूर कहना चाहिए कि डो. पोल किपास्की के मतानुंसार पाणिनि ने जहाँ 'वा' शब्द से जो वैकल्पिक रूप का अवतार किया, वही सामान्यतः वरणीय होता है।[10])

(ख) पाणिनीय–व्याकरण में दोनों तरह की अभिव्यक्तियां स्वीकार्य होतें हुए भी, यह उल्लेखनीय है कि – पाणिनि ने विग्रह वाक्य से ही ('= उपगोः अपत्यं पुमान्' से ही) वृत्तिजन्य 'औपगव' शब्द की सिद्धि–प्रक्रिया वर्णित की है।

(ग) अतः ऐसी प्रक्रिया में स्पष्ट रूप से रूपान्तरण के नियम (उदाहरण के लिए – तस्यापत्यम्। ४–१–१२, अत इञ्। ४–१–९५, स्त्रीभ्यो ढक्। ४–१–१२० कृत्तद्धितसमासाश्च। १–२–४६, सुपो धातुप्रातिपदिकयोः। २–४–७१, यचि भम्। १–४–१८, यस्येति च। ६–४–१४८, तद्धितेष्वचामादेः। ७–२–११७, किति च। ७–२–११८ इत्यादि) प्रस्तुत किये गये है॥

(घ) पाणिनीय–व्याकरणतन्त्र के उत्तर गोलार्ध में प्रस्तुत होनेवाले रूपान्तरण के नियमों से साधित जो तद्धितान्त शब्द होते हैं, वे किसी अंन्य वाक्य के कारकसमुदाय में से किंसी का विशेषण (रूप अर्थ) बन सकते हैं। यथा – औपगवाद् ऋषेः

---

10. Contrary to tradition, the three words are not synyonmous, but are used to denote different perferences among optional variants. They are to be translated as follows : **Vā** – 'or rather', 'usually' – 'preferably'.

Vibhāṣa – 'or rather not', 'rarely', 'preferably not', 'marginally'.

Anyatarasyām – 'either way', 'sometimes', 'optionally', alternatively. This three–way distinction enables Pāṇini's rules to register the stylistic preferences among variants which are characteristics of any living language in its natural state. – **PĀṆINI – AS A VARIATIONIST,** by Paul Kiparsky, University of Poona, Pune, 1980 (p. 1).

शिष्याः वेदार्थं जानन्ति ॥ अर्थात् – ऐसे विशेषणीभूत तद्धितान्त शब्दों, प्रातिपदिक संज्ञक बनकर फिर से किसी नये वाक्य में प्रवेश करने के लिए, तन्त्र के पूर्वगोलार्ध में निर्दिष्ट सूत्रावली की शरण में पहुँच जाते हैं। इस तरह पाणिनीय व्याकरण–तन्त्र निरन्तर चक्रवत् घूमता रहता है।

2.1.3 समास रूपा वृत्ति :

विग्रह वाक्य के दो (या अधिक) पद अपना अलग अलग अर्थ देते हैं। परन्तु जब व्याकरण की विशिष्ट–प्रक्रिया से उनको एक साथ में बिठाया जाता है, दो पृथक् पदों में से एकपद बनाया जाता है, और इसके परिणाम स्वरूप दोनों का एकार्थीभाव सिद्ध होता है तब उस को 'समास' कहते हैं। यथा – राज्ञः पुरुषः (गच्छति) ⟶ राजपुरुषः (गच्छति) ॥ यहाँ पर 'राज्ञः पुरुषः (गच्छति)' यह लौकिकविग्रह वाक्य है। और

राजन् + ङस् + पुरुष + सु

↓

'तत्पुरुष समास' संज्ञा

↓

उसके बाद

'समास' की 'प्रातिपदिक' संज्ञा

राजन् + ० + पुरुष + ०

राज० + पुरुष०

= राजपुरुष

यह अलौकिक विग्रहवाक्य है।

(१) *प्राक् कडारात्समासः* । २–१–३,

(२) *विभाषा* । २–१–११, और

(३) *तत्पुरुषः* । २–१–२२ के अधिकार में आये हुए

(४) *षष्ठी* । २–२–८ से षष्ठ्यन्त शब्द का समर्थ सुबन्त के साथ 'समास' होता है। और उसको 'षष्ठी तत्पुरुष' समास कहते है।

जिस के फलस्वरूप –

(५) *कृत्तद्धितसमासाश्च* । १–२–४६ से प्रातिपदिक संज्ञा होगी।

(६) *सुपो धातुप्रातिपदिकयोः* । २–४–७१ से सुप् विभक्ति प्रत्ययों का लुक् होगा। उसके बाद

(७) *नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य* । ८–२–७ से 'न्' कार का लोप,

(८) 'समास' की सिद्धि।

यहाँ पर जो ध्यानास्पद है, वह यह है :—

(क) पाणिनि ने **विभाषा । २—१—११** सूत्रोक्त अधिकार के नीचे जो समास विधायक सूत्र रखें हैं, वे सब वैकल्पिक हैं। (इस अधिकारसूत्र को शास्त्र में 'महाविभाषा' के नाम से जाना जाता है।) इस का फलितार्थ यह हुआ कि — विग्रहवाक्य के विकल्प में सामासिक पद से भी अर्थाभिव्यक्ति हो सकती है, उसको मान्यता प्रदान की गई है।

(ख) समास–प्रक्रिया के आरम्भबिन्दु पर कोई न कोई विग्रहवाक्य ही अन्तःस्तरीय रचना के रूप में होता हैं। और बाद में उसी विग्रहवाक्य को तोड़ कर; अर्थात् विग्रहवाक़्यान्तर्गत पदों के विभक्तिप्रत्ययों को हटाकर 'एकार्थीभाव' सिद्ध किया जाता है।

(ग) यहाँ विग्रहवाक्य के पदों का समासवृत्ति में परिवर्तन करने के लिए, रूपान्तरण के जो नियम प्रस्तुत किये गये हैं, उनमें से कतिपय ऐसे हैं :— प्राक् कडारात्समासः । २—१—३, २—२—३८, सुपो धातुप्रातिपदिकयोः । २—४—७१, प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् । १—२—४३ और उपसर्जनं पूर्वम् । २—२—३०, द्वन्द्वे घि । २—२—३२, अल्पाचतरम् । २—२—३४ इत्यादि ॥

2.1.4 एकशेष रूपा वृत्ति :

पाणिनि ने 'अष्ट्याध्यायी' में *सरूपाणाम् एकशेष एकविभक्तौ । १—२—६४* से *१—२—७३* के बीच में 'एकशेष' का प्रकरण रखा है।[11] भाषा में प्रायः सर्वत्र सरूप शब्दों में से किसी एक का 'एकशेष' होता है,. तो कदाचित् विरूप शब्दों में से किसी एक का 'एकशेष' होता है। विरूप शब्दों में से किस का एकशेष होता है, वह *स्त्री पुंवच्च । १—२—६६, पुमान् स्त्रिया । १—२—६७, पिता मात्रा । १—२—७०* इत्यादि सूत्रों से निर्दिष्ट है। उदाहरण के लिए —

(क) राम + राम + राम + जस् (प्रथमा विभक्ति बहुवचन)

11. द्वन्द्व समास के दो ही भेद है : (१) इतरेतर द्वन्द्व, और (२) समाहार द्वन्द्व । ('एकशेष द्वन्द्व' जैसा कोई स्वतन्त्र तीसरा भेद नहीं है।) अतः समास को एक वृत्ति मानने के बाद, 'एकशेष' को पृथक् वृत्ति मानने की क्या जरूरत थी ? ऐसी शङ्का को कोई स्थान ही नहीं है ॥

यहाँ पर *सरूपाणामेकशेषः एकविभक्तौ । १–२–६४* सूत्र कहता है कि – एक ही विभक्ति (प्रत्यय) में स्थित समान रूपवाले (= समान आनुपूर्वीवाले) शब्दों में से एक शब्द का शेष रहता है । (और अन्य शब्दों का लोप होता है) । यथा – राम + ० + ० + जस् । जिसमें से आगे चलकर 'रामाः' रूप की सिद्धि होती है ॥

(ख) हंसी च हंसश्च । इस विग्रह पर *चार्थे द्वन्द्वः । २–२–२९* सूत्र की प्राप्ति होती है । परन्तु एकशेष प्रकरण (१–२–६४ से ७३) के सूत्र अनवकाश होने के कारण द्वन्द्व समास का बाध करता है ।[12] इस के बाद, *पुमान् स्त्रिया । १–२–६७* सूत्र की प्रवृत्ति होती है : स्त्री के साथ कहा गया पुमान् (वाचक शब्द) अवशिष्ट रहता है – ऐसी सूचना से "हंसौ" ऐसा शब्द सिद्ध होता है ॥[13]

यहाँ पर भी विग्रहवाक्य (हंसी च हंसश्च) में से 'हंसौ' ऐसा एकशेष–पद सिद्ध किया है – यह ध्यातव्य है । और एकशेष–प्रकरण के सभी–सूत्र रूपान्तरण के नियम प्रस्तुत करते है ॥

2.1.5 सनाद्यन्त धातु रूपा वृत्ति :

'अष्टाध्यायी' में *गुप्तिज्किद्भ्य सन् । ३–१–५* से लेकर *३–१–३०* पर्यन्त जो जो /–सन्/, /–क्यच्/, /–काम्यच्/, /–क्यङ्/, /–णिङ्/, /–णिच्/, /–यङ्/, /–यङ्लुक्/ इत्यादि प्रत्ययों का विधान किया गया है, वे 'सनादि' प्रत्यय कहे जाते हैं । इन प्रत्ययों के प्रयोग से एक पूरे विग्रह वाक्य का एक पद में रूपान्तरण किया जा सकता है । यथा –

(१) *सुप आत्मनः क्यच् । ३–१–८* सूत्र से कहा गया है कि – इच्छा क्रिया के कर्म (वाचक) द्वितीया सुबन्त पद से परे, "इच्छा" अर्थ में, "क्यच्" प्रत्यय होता है; जब इच्छा करनेवाला (कर्ता) द्वितीयान्त पदवाच्य अर्थ (= वस्तु) को अपने लिए चाहता है । उदाहरण के लिए – 'पुत्रम् आत्मनः इच्छति ।' इस विग्रह वाक्य में से 'पुत्रीयति' जैसा क्यजन्त क्रियापद निष्पन्न किया जाता है ।

---

12. अनवकाश एकशेषो द्वन्द्वं बाधिष्यते । (१–२–६४ इत्यत्र महाभाष्यम्)
13. यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी । ऐसे (१–२–६४) भाष्योक्त नियम से अविशिष्ट रहनेवाला हंसः (पुंलिग) शब्द हंसी का भी बोध करायेगा । अतः उसको द्विवचन में रखा गया है ।

'आत्मनः पुत्रम् इच्छति ।' पुत्र + अम् + क्यच् धातुसंज्ञा	(१) *सुप आत्मनः क्यच् । ३–१–८* से 'क्यच्' का विधान । (२) *सनाद्यन्ताः धातवः । ३–१–३२* से क्यजन्त अंश की 'धातु' संज्ञा की जाती है ।
पुत्र + ० + क्यच्	(३) *सुपो धातुप्रातिपदिकयोः । २–४–७१* से 'धातु' के अवयवभूत 'सुप्' प्रत्यय का लुक् होता है ।
पुत्र + ० + य	(४) *लशक्वतद्धिते । एवं हलन्त्यम् ।* से क् एवं च् की उत्संज्ञा, लोप ।
पुत्री + ० + य = पुत्रीय (धातु) ।	(५) **क्यचि च । ७–४–३३** से 'पुत्र' शब्द के अ कार को ईत्व करने से सनाद्यन्त धातु की सिद्धि हो जाती है ।
पुत्रीय + लट् पुत्रीय + तिप् पुत्रीय + शप् + तिप् पुत्रीय + अ + ति (पररूप) पुत्रीयति ॥	(६) **वर्तमाने लट् । ३–२–१२३** इत्यादि की प्रवृत्ति होने पर शप्, पररूप वगैरह होने से रूपसिद्धि पूर्ण होती है ।

(२) णिजन्त (प्रेरक) वाक्यरचना : *सत्यापपाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्म–वर्णचूर्ण–चुरादिभ्यो णिच् । ३–१–२५* सूत्र से पाणिनि ने 'चुरादि (दशम) गण के धातुओं को स्वार्थ में 'णिच्' प्रत्यय होता है' – ऐसा कहा है । परन्तु. *तत्प्रयोजको हेतुश्च । १–४–५५* सूत्र से कहा है कि कर्ता के प्रयोजक (= प्रेरक) की 'हेतु' संज्ञा (और 'कर्तृ' संज्ञा भी) होती है । जिसके फलस्वरूप–*हेतुमति च । ३–१–२६* सूत्र से, प्रयोजक के प्रेरणा रूप व्यापार को कहने के लिए धातु से 'णिच्' प्रत्यय का विधान किया जाता है ॥ यह णिजन्त–प्रक्रिया

भी हमें यह साफ साफ बताती है कि – पाणिनि ने शुद्ध कर्तरिवाक्य की सिद्धि कर देने के बाद; उसी शुद्ध कर्तरि वाक्य का 'प्रेरक कर्तरि वाक्य' में कैसे रूपान्तरण किया जाता है ? उसका निरूपण किया है । यथा –

(१) रामः वनं गच्छति । इसमें से –

[(प्रयोज्य कर्ता) (कर्म) (शुद्ध कर्तरि क्रियापद)
(स्वतन्त्रः कर्ता) (अणिजन्त क्रियापद)]

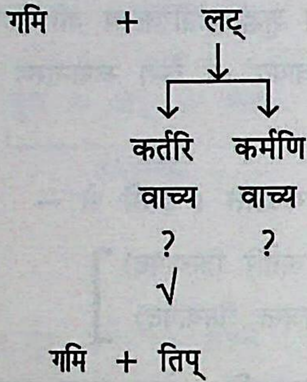
(२) दशरथः रामम् वनं गमयति । प्रेरक वाक्य बनाया जाता है।

[(प्रयोजक कर्ता) (प्रयोज्य कर्ता की 'कर्म' संज्ञा) णिजन्त = प्रेरक क्रियापद]

उपर्युक्त दो वाक्यों का परीक्षण करने से मालूम पड़ता है कि – दूसरे वाक्य में कुल मिला कर तीन परिवर्तन हुए हैं : (१) नये प्रयोजक–कर्ता के रूप में 'दशरथः' पद नया आया है, (२) मूल (प्रथम) वाक्य का (प्रयोज्य) कर्ता 'रामं' द्वितीय वाक्य में कर्मसंज्ञक हो कर द्वितीया विभक्ति में चला गया है, और (३) 'गच्छति' (अणिजन्त क्रियापद) का 'गमयति' (णिजन्त क्रियापद) में परिवर्तन हो गया है । इन में से दूसरे और तीसरे परिवर्तन की प्रक्रिया देखें तो –

पांणिनि ने कहा है कि – ***गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणाम् अणि कर्ता स णौ । १–४–५२*** अर्थात् 'गत्याद्यर्थक धातुओं के अणिजन्त कर्ता की णिजन्त में (= प्रेरकरचना में) कर्मकारक संज्ञा होती है ।' जिसके कारण शुद्ध कर्तरि वाक्य का कर्ता 'रामः', प्रेरकरचना में कर्मसंज्ञक बनकर, कर्मणि द्वितीया । २–३–२ सूत्र से द्वितीया विभक्ति में परिवर्तित हो जाता है :– रामम् ।

और दूसरी और (गच्छति) क्रियापद में √गम्लृ गतौ धातु को, ***हेतुमति च । ३–१–२६*** सूत्र से प्रेरणार्थक णिच् (इ) लगता है : गम् + णिच् → इ = गमि । अब 'गमि जैसे णिज़न्त अंश की ***सनाद्यन्ता धातवः । ३–१–३२*** से 'धातु' संज्ञा होती है । जिसके परिणाम स्वरूप निम्नोक्त प्रक्रिया आगे बढ़ती है :–

	(१) *वर्तमाने लट् । ३–१–१२३ ।*
	(२) *लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः । ३–४–६९* से विवक्षा पूछे जाने पर मान लीजिये कि हमने कहा है कि हमारा यह 'ल्' कर्ता को वाच्य बनायेगा ।
गमि + तिप्	(३) *लस्य । ३–४–७७* के अधिकार में *तिप्तस् झि.......महिङ् । ३–४–७८* से ल् के स्थान में 'तिप्' आदेश की प्रवृत्ति ।
गमि + शप् + तिप्	(४) *कर्तरि शप् । ३–१–६८* से शप् विकरण प्रत्यय का विधान ।
इगन्त अङ्ग को गुण	(५) *सार्वधातुकार्धधातुकयोः । ७–३–८४* से इगन्त अङ्ग को गुण होगा ।
गमे + अ + ति	(६) *एचोऽयवायावः । ६–१–७८* से ए → अय् आदेश ।
गम् अय् + अ + ति	
गमयति ।	(७) णिजन्त क्रियापद की सिद्धि सम्पन्न होती है ।

अब 'गमयति' क्रियापद के /–तिप्/ प्रत्यय से कर्तृकारक वाच्य है ऐसी विवक्षा हमने उपर्युक्त प्रक्रिया के आरम्भ में व्यक्त की थी । अतः कर्ता 'तिप्' से अभिहित होने के कारण 'दशरथ' रूप नये प्रेरक कर्तृकारक शब्द को *कर्तृकरणयोस्तृतीया । २–३–१८* से तृतीया नहीं लगती है । परन्तु *प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा । २–३–४६* सूत्र से प्रथमा विभक्ति (एकवचन) /–सु/ प्रत्यय लगता है, और 'दशरथः' ऐसा सम्पन्न होता है । 'दशरथः रामं वनं गमयति' ॥

यहाँ पर तीन सूत्र – (१. *हेतुमति च । ३–१–२६*, २. *गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणाम् अणि कर्ता स णौ । १–४–५२* एवं ३. *सनाद्यन्ता धातवः । ३–१–३२)*

ऐसे है जो स्पष्ट रूप से यह बताते हैं कि पाणिनि ने एक (शुद्धि) कर्तरि वाक्य का णिजन्त (= प्रेरक) वाक्य में रूपान्तरण कैसे कैसे होता है – यह प्रदर्शित किया है ।

2.2 पूर्वोक्त चर्चा का निष्कर्ष :

पाणिनीय व्याकरण तन्त्र के पूर्वोक्त उत्तर गोलार्ध में, विग्रह वाक्य में से एक वृत्तिजन्य शब्द का निर्माण करने के लिए रूपान्तरण के नियम (Transformational rules) प्रस्तुत किये गये हैं – ऐसा कहना सर्वथा उचित है ।

यह स्मर्तव्य है कि तन्त्र के पूर्व गोलार्ध में प्रदर्शित वाक्यनिष्पत्ति की प्रक्रिया में कर्तरिवाच्य, कर्मणिवाच्य या भाववाच्य वाक्यरचनाओं को पूर्ण स्वतन्त्र रूप से निष्पन्न होती हुई बताई गई है । अर्थात् कर्तरिवाच्य को मूल रचना लेकर उसका कर्मणिवाच्य या भाववाच्य में रूपान्तरण होता है – ऐसा नहीं बताया गया है ।

केवल तन्त्र के उत्तर गोलार्ध में, जहाँ पर 'पदोद्देश्यक–विधियाँ' प्रस्तुत की गई है, वहाँ पर ही (शुद्ध) कर्तरि रचना से णिजन्त (प्रेरक) वाक्यरचना का रूपान्तरण दिखाया गया है । और कृत्–तद्धितादि (प्रथम चार) वृत्तियों में कोई न कोई विग्रहवाक्य अन्तःस्तरीय रचना के रूप में गृहीत होकर ही, उसका वृत्तिजन्य पद में परिवर्तन होता हुआ प्रदर्शित किया गया है । और ऐसे अन्तःस्तरीय रचना के रूप में रहे विग्रहवाक्य भी बनते तो हैं तन्त्र के पूर्वगोलार्ध में निर्दिष्ट पदत्वसंपादक विधिसूत्रों से ही ! यह भी भूलना नहीं चाहिए ॥

एवमेव, विग्रहवाक्य में से साधित वृत्तिजन्य कृदन्त, तद्धितान्त या समासादि रूप शब्द एक नये वाक्य के कारकों का विशेषण रूप 'अर्थ' बनकर तन्त्र के पूर्वगोलार्ध में निर्दिष्ट पदत्वसंपादक विधियों की शरण में फिर से पहुँचते ही हैं । जिसके फल स्वरूप हमें "(दाशरथिः) रामः (जनकनन्दिनीं) (प्रियंवदां) सीतां (स्थण्डिलशायिनः) वाल्मीकेराश्रमं गमयति ।" जैसा वाक्य मिलता है । इस प्रलम्ब वाक्य की पूर्वावस्था में मूल (शुद्ध) कर्तरिवाक्य तो "सीता वाल्मीकेराश्रमं गच्छति" इतना ही है । परन्तु उसीका – (१) प्रेरक वाक्यरचना में जब रूपान्तरण होता है तो "रामः सीतां वाल्मीकेराश्रमं गमयति" जैसा वाक्य बनता है । और (२) इस नये वाक्य के कारकों का विशेषण बनकर जो जो तद्धितान्त, कृदन्त या समासादि वृत्तिजन्य शब्द आये हैं, वे भी मूल में तो कोई स्वतन्त्र विग्रह वाक्य में से ही बनाये गये हैं । जैसा कि –

(क) दशरथस्य अपत्यं पुमान् इति **दाशरथिः** ।

यहाँ *अत इञ् । ४–१–९५* से अपत्यार्थक 'इञ्' तद्धित प्रत्यय का प्रवर्तन हुआ है ।

(ख) नन्दयति या सा – नन्दिनी ।

यहाँ *नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्यु–णिन्–यचः । ३–१–१३४* से √नन्द् धातु को ल्युट् → अन हो कर 'नन्दन' जैसा कृदन्त शब्द बनता है । बाद में स्त्रीप्रत्यय (४–१–१५) से ङीप् हो कर 'नन्दिनी' बनता है । तत्पश्चात् –

जनकस्य नन्दिनी इति ऐसे विग्रह वाक्य में से 'जनकनन्दिनी ।' षष्ठी तत्पुरुष समास बनता है ।

(ग) प्रियं वदति या, सा प्रियंवदा ।

यहाँ पर, *प्रियवशे वदः खच् । ३–२–३८* सूत्रोक्त /–खच्/ प्रत्यय √वद धातु को लगता है । और *अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् । ६–३–६७* से ('प्रिय' शब्द को) मुम् आगम होता है । स्त्रीत्व का टाप् । 'प्रियंवदा' यह कृदन्त शब्द है ।

(घ) स्थण्डिलं (नित्यं) शेते (व्रतपरिपालनाय) । इति स्थण्डिलशायी । (स्थण्डिल + शीङ् + णिनि) यहाँ पर *व्रते । ३–२–८०* सूत्र से 'व्रत' रूप अर्थ बोधित कराने के लिए √शीङ् शयने धातु को णिनि → इन् प्रत्यय लगता है । यहाँ 'स्थण्डिलशायिन्' कृदन्त शब्द है ।

इस तरह प्रत्येक कृदन्त, तद्धितान्त एवं समासादि वृत्तिपद में अन्तःस्तरीय रचना के रूप में एक विग्रह वाक्य होता है । इन सब का कृदन्तादि शब्द में रूपान्तरण हो जाने के बाद वे एक नये वाक्य के कारकों का विशेषण बन कर, पुनः पदत्वसंपादक विधियाँ प्राप्त कर सकते हैं । इस तरह पाणिनीय तन्त्र का प्रवर्तन एवं परिभ्रमण एक घूमते हुए चक्र की तरह दिखाई पड़ता है ॥

3.0 पाणिनीय व्याकरण–तन्त्र का स्वरूप :

इतना तो निश्चित है ही कि पाणिनि ने अपना 'अष्टाध्यायी' व्याकरण पृथक्करणात्मक शैलीवाला नहीं लिखा है । उसमें तो प्रकृति + प्रत्यय के संयोजन से शब्दों एवं वाक्यों की निष्पत्ति (विशेष उत्पत्ति = व्युत्पत्ति) की प्रक्रिया प्रदर्शित की है । परन्तु वर्तमान युग में आधुनिक भाषाविज्ञान का उदय होने के बाद पाणिनीय व्याकरण किस स्वरूप का है ? यह अनेक दृष्टिओं से देखा गया है । भारत वर्ष के मनीषीओं ने प्राचीनकाल से ऐसा माना हि की पूर्वमीमांसाशास्त्र 'वाक्यशास्त्र' है और (पाणिनीय) व्याकरणशास्त्र एक 'पदशास्त्र' है । आधुनिक

भाषाविज्ञान की परिभाषा में ऐसे पद निष्पादक शास्त्र को Morphological Grammar कहा जाता है। परन्तु पाणिनि के 'कारकपाद' (1–4–23 से 55) एवं 'विभक्तिपाद' (2–3–1 से 73) का अध्ययन करने के बाद प्रोफे. एस. डी. जोशी (पूणें) समेत अनेक विद्वानों ने माना है कि पाणिनि ने वाक्यनिष्पादकतन्त्र की ही रचना की है। अर्थात् पाणिनीय व्याकरण Sentence level का व्याकरण है।

जे. एफ. स्टाल[14] एवं पी. एस. सुब्रह्मण्यम्[15] जैसे विद्वानों ने कहा है कि पाणिनि ने Transformational generative grammar प्रस्तुत किया है ॥ परन्तु प्रोफे. ज्योर्ज कार्दोना ने कहा है कि इन सभी आधुनिक भाषावैज्ञानिकों के मत केवल "अन्धैः हस्तिदर्शनम्" न्याय जैसा कहा जा सकता है। यथा – एक अन्धेने हस्ती की सूंढ का स्पर्श करके बताया कि हस्ती अजगर जैसा है; तो दूसरे अन्धे ने हस्ती के पाँव का स्पर्श करके निश्चित किया कि हस्ती खम्भे या वृक्ष जैसा होता है। तो इस विभिन्न दर्शन में; हस्ती के स्वरूप का आकलन करने में, सत्यांश होते हुए भी, केवल खण्डदर्शन है; अखण्डदर्शन नहीं है ! उपर्युक्त सभी मत में कुछ न कुछ आधार जरूर है, परन्तु वह पूर्णतया स्वीकृत भी नहीं किये जा सकते ॥[16]

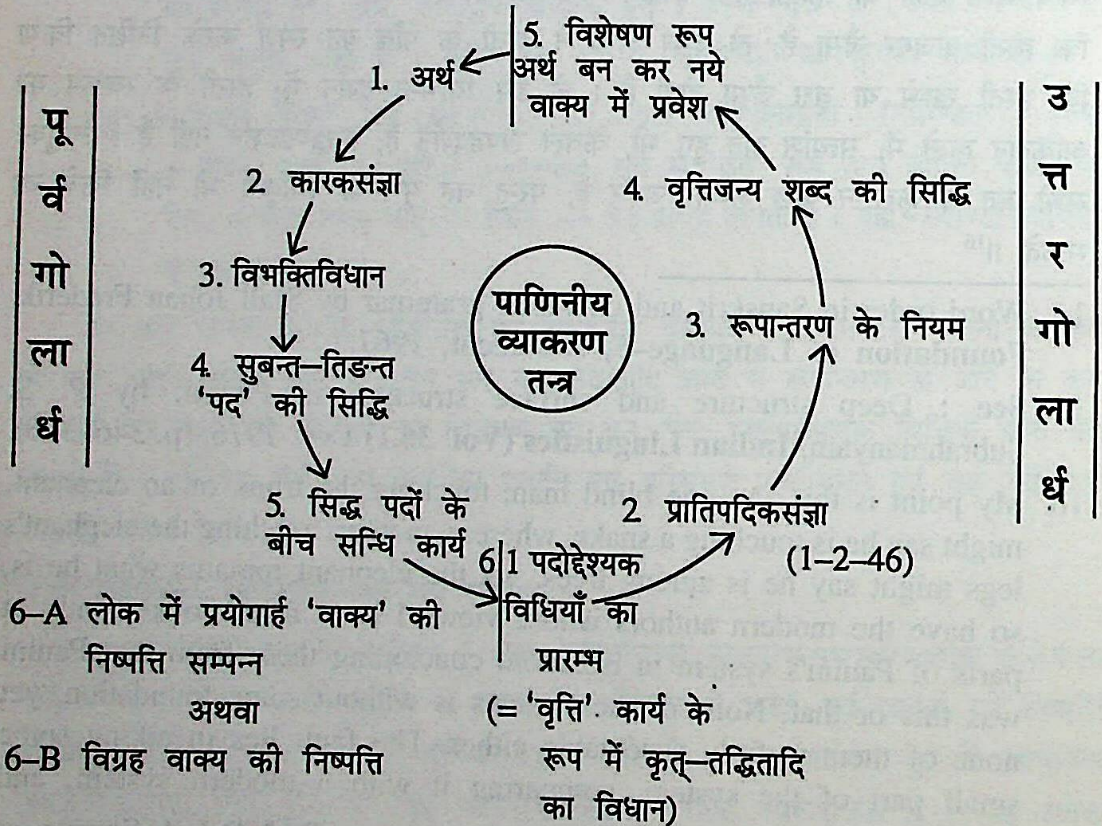
---

14. Word order in Sanskrit and universal grammar by Stall Johan Frederik, **Foundation of Language–5,** Dordrecht, 1967.
15. **See :** Deep structure and surface structure in Panini; by P. S. Subrahmanyam, **Indian Linguistics (Vol. 36.1)** Dec. 1976, (p. 346–366).
16. My point is this. As one blind man, touching the trunk of an elephant, might say he is touching a snake, whereas another, touching the elephant's legs might say he is among trees, yet the elephant remains what he is, so have the modern authors whose views I have noted looked only at parts of Panini's system in isolation, concluding there from that Pāṇini was this or that. None of these views is without some foundation, yet none of them is fully acceptable either. The fault lies in taking some small part of the system, comparing it with a modern system; and concluding that the two are indeed the same. – **PĀṆINI–A Survey of Research;** by George Cardona, Pub., Motilal Banarasidass, Delhi, 1980, (p. 236).

3.1 पाणिनीय–व्याकरण : चक्रवत् घूमता हुआ एक तन्त्र :

परन्तु, प्रोफे. ज्योर्ज कार्दोना के उपर्युक्त अभिप्राय के अनुसन्धान में यह कहना भी आवश्यक है कि – आधुनिक विद्वानों द्वारा पाणिनीय–व्याकरण का जो अद्यावधि आंशिक दर्शन प्राप्त किया गया है; वह यदि पूर्णतया स्वीकार्य नहीं है, तो पूर्णतया तिरस्कार्य भी नहीं है !

प्रस्तुत द्वितीय व्याख्यान में, हमने जो पाणिनीय व्याकरण को 'चक्रवत् घूमता हुआ एक तन्त्र' कहा है, उसी मत में पूर्वाचार्यों के सभी मतों का समावेश किया जा सकता है । और भूतकाल में जो जो आंशिक दर्शन प्राप्त हुए है उन्हीं को योग्य तार्किक क्रम में सुसंगत करके बिठाया जाय तो सम्भव है कि पूर्ण हस्ती का दर्शन दृष्टिगोचर बन जाय ! जैसा कि –



यहाँ पर, तन्त्र के पूर्व गोलार्ध में जो पदत्वसाधक विधियाँ है, उनमें Morphological grammar का स्वरूप देखा जा सकता है; परन्तु पदत्व की सिद्धि होने के बाद आगे चलने पर

5. सोपान पर 'वाक्य' की निष्पत्ति भी/ही है । अतः इसी तन्त्र को 'वाक्यनिष्पादकतन्त्र' भी कहा जा सकता है ॥

अब पाणिनीय व्याकरण तन्त्र के उत्तर गोलार्ध में जो विधियाँ वर्णित की गई हैं, वे पदोद्देश्यक–विधियाँ हैं; जिनको 'वृत्ति' कार्य भी कह सकते हैं । (इस स्वरूप को देखकर ही शायद, प्राचीन भारतवर्ष में इस व्याकरणशास्त्र को 'पदशास्त्र' कहा गया होगा ।) इस उत्तर गोलार्ध में गिनाई गई जो शास्त्रप्रक्रियाँए है, वे किसी न किसी विग्रह वाक्य को तोड़ क़र, कृदन्त, तद्धितान्त या समासादि प्रकार के शब्दों का निर्माण किया जाता है । अतः उसी भाग को ''रूपान्तरण का व्याकरण'' नाम दे दें तो वह भी सही है ।

यहाँ पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निरीक्षणीय बिन्दु यह कि पदोद्देश्यक–विधियाँ जिन विग्रहवाक्य पर प्रवृत्त की जाती हैं, वे भी इसी तन्त्र के पूर्व गोलार्ध में वर्णित विधियों से निष्पन्न हुई होती है । अतः दोनों गोलार्धों का पारस्परिक सन्धान करने वाले जो सूत्र हैं वे *समर्थः पदविधिः । २–१–१* जैसा परिभाषासूत्र और *कृतद्धितसमासाश्च । १–२–४६* जैसा प्रातिपदिकसंज्ञाविधायक सूत्र हैं ॥ इस तरह से पाणिनीय व्याकरण चक्रवत् निरन्तर घूमता हुआ एक तन्त्र है; जो लोक में प्रयोगार्ह हो ऐसे अनेक असंख्य वाक्य सदैव निष्पन्न करता रहता है । ऐसे वाक्य की निष्पत्ति का आरम्भ विवक्षित अर्थ की पूर्व अवधारणा से शूरू होता है । ऐसे वाक्य या वाक्यांश को 'विग्रहवाक्य' के रूप में लेकर, हम चाहें तो कृत्तद्धितसमासादि पञ्चविध वृत्तियों का निर्माण करके, अपने अभीष्यार्थ को एक दृढ़बन्ध के रूप में भी प्रस्तुत कर सकते हैं । अथवा–ऐसे वृत्तिजन्य शब्दों का कारकों के (अभेदनिष्ठ) विशेषण के रूप में प्रयोग करके, अपनी अभिव्यक्ति को अधिक परिनिष्ठित भी कर सकते हैं ॥

ॐ

पाणिनीय व्याकरणतन्त्र में 'अर्थ' का स्थान, स्वरूप एवं कार्य

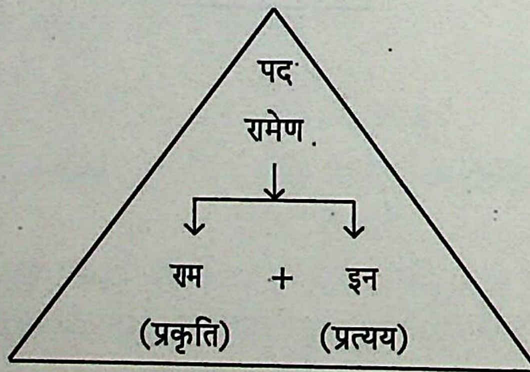
(द्वितीय–व्याख्यान)

येन धौता गिरः पुंसां विमलैः शब्दवारिभिः ।
तमश्चाज्ञानजं भिन्नं तस्मै पाणिनये नमः ॥

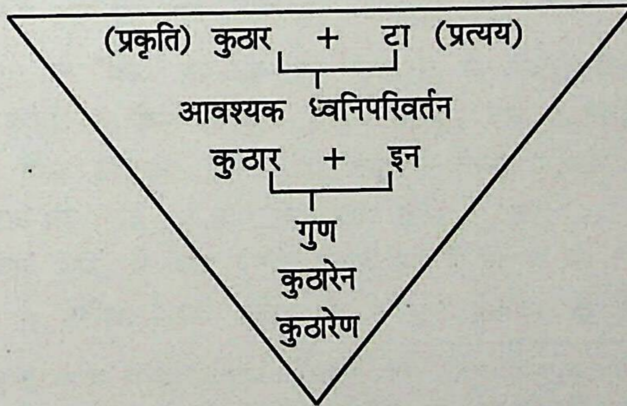
0.0 भूमिका :

0.1 'व्याकरण' शब्द का अर्थ एवं पाणिनीय व्याकरण का स्वरूप

वि + आ उपसर्गपूर्वक √कृ (करणे) धातु को 'करण' अर्थ में ल्युट् (अन) प्रत्यय जोड़ने से 'व्याकरण' शब्द निष्पन्न होता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से देखा जाय तो "व्याक्रियन्ते (= पृथक् क्रियन्ते) शब्दा अनेन इति व्याकरणम् ।" अर्थात् जिस के द्वारा पदों के प्रकृति और प्रत्यय को पृथक्कृत करके दिखाया जाता है, उसे 'व्याकरण' कहते हैं। उदाहरण के लिए – भवति क्रियापद में √भू सत्तायाम् धातु (प्रकृति) है, और उसको 'कर्तृ' अर्थ में प्रथम पुरुष, एकवचन का परस्मैपदसंज्ञक 'ति' प्रत्यय लगा है। रामेण जैसे नामपद में ह्रस्व अ कारान्त पुंलिंग राम प्रातिपदिक (प्रकृति) को कर्तृकारक या करण कारकार्थ में तृतीया विभक्ति एकवचन का टा → इन प्रत्यय लगा है – इसतरह से पदों के प्रकृति–प्रत्यय को अलग करके प्रदर्शित करना 'व्याकरण' कहलाता है। 'व्याकरण' शब्द का यह व्युत्पत्तिजन्य अर्थ सूचित करता है कि किसी भी व्याकरणतन्त्र की आकृति एक (खड़े) त्रिकोणाकार जैसी होनी चाहिए :–



किन्तु महर्षि पाणिनि–प्रणीत व्याकरणतन्त्र का अनुशीलन करने से यह ज्ञात होता है कि 'व्याकरण' शब्द का अर्थ 'पृथक् क्रियन्ते' नहीं है । यहाँ तो 'व्याक्रियन्ते' शब्द का अर्थ – ''निष्पाद्यन्ते व्युत्पाद्यन्ते संसाध्यन्ते शब्दा अनेन इति व्याकरणम् ।'' – ऐसा ही सङ्गत होता है। अर्थात् पाणिनिविरचित व्याकरणतन्त्र में तो प्रकृति + प्रत्यय का सम्मेलन करके, किस तरह से नामपद (सुबन्त) एवं क्रियापद (तिङन्त) के रूपों की सिद्धि = निष्पत्ति की जाती है यह बताया जाता है । संक्षेप में कहा जाय तो, इस पाणिनीय व्याकरणतन्त्र में पदों का पृथक्करण प्रस्तुत नहीं हुआ है, बल्कि प्रकृति + प्रत्यय के संयोजन की प्रक्रिया ही सिखाई गयी है । जैसे – राम कुल्हाड़ी से वृक्ष को काटता है । यहाँ 'कुल्हाड़ी नामक एक वस्तु' + 'उसकी साधकतम साधन के रूप में प्राप्त होनेवाले साहाय्य' – अर्थ को व्यक्त करने का प्रसङ्ग/ विवक्षा होने पर वस्तुवाचक प्रकृति के रूप में 'कुठार' शब्द का चयन किया जाता है । और 'साधकतम साधन' रूप अर्थ व्यक्त करने के लिए /–टा/ ऐसा प्रत्यय लिया जाता है । उसके बाद, प्रकृति + प्रत्यय में आवश्यक ध्वनिपरिवर्तन का निरूपण किया जाता है; फिर तृतीय स्तर पर दोनों अंशों का संयोजन करके, ''कुठारेण'' (सुबन्त) पद की सिद्धि होती है । इस से यह प्रतीत होता है कि पाणिनीय व्याकरण की आकृति उल्टे त्रिकोण जैसी है!



इस तरह से सोचने पर मालूम होता है कि पाणिनीय–व्याकरण कोई पृथक्करण (Analysis) की प्रक्रिया नहीं है, बल्कि वह संयोजन (Synthesis) की प्रक्रिया है ॥

0.2 'व्याकरण' का प्रतिपाद्य :

किसी भी भाषा के व्याकरण में कुल मिलाकर चार वर्ण्य विषयों का समावेश होता है । जैसे – (१) ध्वनि (स्वर–व्यञ्जन), (२) पद (नामपद–क्रियापद), (३) वाक्य एवं (४) अर्थ । इनमें से प्रथम तीन वर्ण्य विषय साधनकोटि में आते हैं और चतुर्थ विषय साध्यकोटि

में आता है । दूसरे शब्दों में कहे तो – ध्वनि, पद एवं वाक्य (अर्थ के) प्रत्यायक कहे जाते है; और जो 'अर्थ' होता है वह 'प्रत्याय्य' कहा जाता है । अतः यह जानना अतीव आवश्यक है कि भगवान् पाणिनि ने अपने व्याकरणतन्त्र में 'अर्थ' को कहाँ स्थान दिया है।

0.3 अर्थतत्त्व का व्याप एवं व्याकरणतन्त्र का कार्यक्षेत्र :

वाग्व्यवहार की अवस्था में वक्ता जब भी किसी से बातचीत करता है तो स्वर–व्यञ्जन रूप ध्वनियाँ से बने 'पदों' और (परस्परान्वित) पदों की श्रेणी से बने 'वाक्य' रूप इकाई का प्रयोग करके, अपने मन में रहे हुए विवक्षित अर्थ को, श्रोता के मन में संक्रान्त करता है । इसतरह वाग्व्यवहार में अर्थाभिव्यक्ति ही चरम एवं परम लक्ष्य है। लेकिन भाषा में प्रयुक्त होनेवाले प्रत्येक वाक्य का एक ही अर्थ (वाक्यार्थ) होता है, ऐसा हमेशा नहीं बनता । 'सूर्य अस्त हो गया' इस वाक्य के प्रसङ्गवशात् (प्रकरणवशात्) अनेक अर्थ हो सकते हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि, एक ही शब्द के वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ रूप विभिन्न अर्थ हो सकते हैं । अब कोई वैयाकरण अपने व्याकरण–तन्त्र में 'अर्थ' को स्थान दे या न दे ?, तथा यदि अर्थ को स्थान दे तो किस स्तर पर – यह विचारणीय प्रश्न है । यह भी विचारणीय है कि वह किस मर्यादा में रह कर (अर्थात् वाच्यार्थ तक ही सीमित रह कर) अर्थ की बात करे ?

आधुनिक भाषावैज्ञानिकों की दृष्टि से भाषा का यह 'अर्थ' रूप चतुर्थ वर्ण्यविषय सरल नहीं है, बल्कि जटिल है और विस्तृत भी है, क्योंकि अर्थों का विचार करते समय केवल कोशगत अर्थों की मीमांसा करने से बात नहीं बनती; कोशगत अर्थों से बाहर निकल कर सम्भाषण सन्दर्भों को भी ध्यान में लेना आवश्यक होता है । अतः इन आधुनिक भाषावैज्ञानिकों में से कुछ का ऐसा भी प्रस्ताव है कि व्याकरण की चर्चा में 'अर्थ' का समावेश नहीं करना चाहिए; उसके लिए तो स्वतन्त्र रूप से ही विचार करना चाहिए ।[1] इस सन्दर्भ में, अब

1. The role of and approach to meaning in language is an important and vexatious theme of inquiry. Formerly, many American linguistis, in a mood of strong rejection of traditional grammar and influenced by a rather extreme behavioristic position, viewed meaning with suspicion..... some have said that meaning lies totally outside the linguistic system, that it is a sort of net work between cultural systems; some feel that it is to be analyzed as a quite separate problem; others, that it must be constantly taken into consideration.

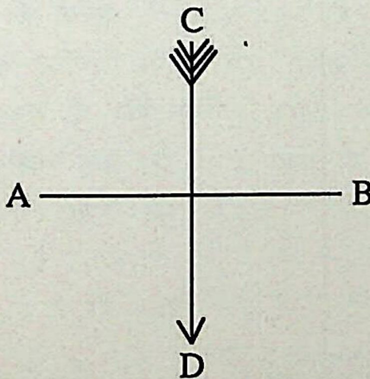
See : **American School of Linguistics :** by Eric. P. Hamp., Published in LINGUISTICS; Ed. by Archibdd A. Hill, Voice of America Forum serices; Washington, 1978 (p. 280).

यह देखना होगा कि महर्षि पाणिनिने अपने **'अष्टाध्यायी'** व्याकरणतन्त्र में अर्थतत्त्व को स्थान दिया है या नहीं ? और यदि अर्थतत्त्व को स्थान दिया है तो कहाँ दिया है, और उसका स्वरूप (विधायें) क्या है और उसका एक शब्दनिष्पादक तन्त्र (Machine) में क्या कार्य है ? – इस प्रथम व्याख्यान में इन विषयों की आलोचना अभीष्ट है ।

1.0 पाणिनीय व्याकरणतन्त्र में 'अर्थ' का स्थान :

1.1 पाणिनीय–व्याकरण का द्विविध स्वरूप :

सोस्युर नामक एक यूरोपीय भाषाविद्ने भाषामात्र के अध्ययन के लिए दो प्रकार की पद्धतियाँ बताई है उनका कथन है कि किसी भी भाषा को, जब उसकी ऐतिहासिक उत्क्रान्ति (परिवर्तन के विविध स्तर) के परिप्रेक्ष्य में देखा जाता है तब उसको historical lingistics (ऐतिहासिक भाषाविज्ञान) कहते हैं । दूसरे शब्दों में इसे diachronic approach भी कह सकते हैं । इससे भिन्न किसी निश्चित समय में प्रवर्तमान भाषा के स्वरूप की जब गवेषणा की जाती है, तब उसे non–historical linguistics कहते हैं । उसी को दूसरे शब्दों में Synchorinic approach भी कहा जाता है ।[2]



प्रस्तुत चित्र में C–D को एक बाण के निशान से जोड़ा गया है, जो यह बताता है कि भाषा एक सतत परिवर्तनशील जीवन्त माध्यम है । काल के अनन्त प्रवाह में, किसी एक भाषा में जो जो परिवर्तन आते हैं उन्हीं का यहाँ अध्ययन किया जाता है । परन्तु A–B बिन्दुओं से यह सूचित करना अभीष्ट है कि अनन्त समय के किसी एक निश्चित अवधि पर (निश्चित कालखण्ड में) किसी एक भाषा का स्वरूप कैसा था ? इस बात का अध्ययन अभीष्ट है । यहाँ पर यह भी स्मर्तव्य है कि भाषा की उत्क्रान्ति का (C → D 'डायक्रोनिक' अभिगम से) अध्ययन करने से पहले, किसी भी भाषावैज्ञानिक को A–B प्रकार के 'सिन्क्रोनिक' दृष्टिकोण से अध्ययन करना अतीव आवश्यक है, क्योंकि पहले यह निश्चित हो जाना जरूरी है कि अनन्त समय में, निश्चित कालबिन्दु पर कोई एक भाषा अमुक स्वरूप की थी । फिर उस के बाद ही

---

2. द्रष्टव्य: **Course in General Linguistics :** by Ferdinand de Saussure (1857–1913).

यह देखा जा सकता है कि उस भाषा की पूर्वस्थिति कैसी थी एवं परवर्ती कालमें कैसी स्थिति बनती गयी । भाषा के अध्ययन में ऐतिहासिक दृष्टि बाद में ही प्रविष्ट होती है ।

इस तरह से सोस्युरने भाषाओं के अध्ययन के लिए जो द्विविध पद्धतियाँ बताई हैं,[3] उनमें से पाणिनिने 'सिन्क्रोनिक' प्रकार के अभिगम को स्वीकार के उनके समय में शिष्टभाषक समुदाय में संस्कृत भाषा किस स्वरूप में बोली जाती थी, किस अर्थ में कैसी रूपरचना होती थी, दो वैकल्पिक रूपों में से कौन सा रूप अधिक प्रयोगार्ह था अथवा सम्भाषण के विशिष्ट सन्दर्भ में कौन सी विशिष्ट विभक्ति या स्वरभार का प्रयोग करना चाहिए—इन सब का 'अष्टाध्यायी' में सूक्ष्मेक्षिका से निरूपण किया है ।

यहाँ पर एक स्पष्टता करनी आवश्यक है कि यद्यपि पाणिनिने अपनी 'अष्टाध्यायी' में वैदिक संस्कृत भाषा और लौकिक संस्कृत भाषा का युगपत् वर्णन किया है; परन्तु वहाँ पर वैदिक संस्कृत भाषा में से लौकिक संस्कृत भाषा कैसे अवतरित हुई है ? — ऐसे 'डायक्रोनिक' अभिगम से संस्कृत भाषा का निरूपण नहीं किया है । किन्तु पाणिनिने 'सिन्क्रोनिक' अभिगम से ही दोनों प्रकार की संस्कृत भाषाओं का एक साथ में निरूपण करने का कार्य बड़ी सफलता से सम्पन्न किया है । संस्कृत भाषा की किसी एक रूपरचना में, लोक में कौन सा रूप प्रचलित है और वेद में क्या भिन्नता या वैशिष्ट्य है वह भी साथ साथ में बताया है । उदाहरण के रूप में कहे तो — लोक में **रामः — रामौ — रामाः** ऐसे प्रथमा विभक्ति के तीन रूप होते हैं । परन्तु वेद में **रामाः** के साथ **'रामासः'** ऐसा एक अधिक रूप भी बनता है ऐसा उन्होंने ***'आज्जसेरसुक्' / पा. सू. ७—१—५०*** सूत्र से कहा है ॥ इस तरह सोस्युर की परिभाषा में कहें तो पाणिनीय व्याकरण 'सिन्क्रोनिक' अभिगम से लिखा गया व्याकरण है ।

* * *

3. He (Saussure) sharply distinguished historical (diachronic) and non-historical (Synchronic) approaches to language study. The former sees language as a continually changing medium; the latter sees it as a living whole existing as a 'state' at a particular moment in time. In his diagram, AB represents a synchronic 'axis of simultaneities' – a language state at some point in time : CD is a diachronic 'axis of successions' – the historical path the language has travelled. – See : **The Cambridge Encyclopedia of Language :** Ed. Devid Crystal, Cambridge Univ. Press, Reprint, 1992, (p. 407).

उपर्युक्त दृष्टिकोण से लिखे गये पाणिनि के 'अष्टाध्यायी' व्याकरण को हम 'वर्णनात्मक' प्रकार का (Descriptive grammar) व्याकरण तो कहेंगे ही; परन्तु जैसा कि आरम्भ में (0.1) कहा गया है, यही व्याकरण पृथक्–करणात्मक पद्धति से नहीं, वरन् संयोजनात्मक पद्धति से लिखा गया है । अर्थात् पाणिनीय व्याकरण तो एक 'शब्दनिष्पादक तन्त्र' भी है । जिस में प्रकृति + प्रत्यय का संयोजन करके, बीच में आवश्यक ध्वनिपरिवर्तन करते हुए, अन्ततोगत्वा लोक में प्रचलित एक प्रयोगार्ह वाक्य किस तरह से निष्पन्न होता है इसकी प्रक्रिया बताई गई है । अतः पाणिनीय व्याकरण के एक साथ दो स्वरूप हमारे सामने उपस्थित होते हैं और इस प्रकार यह व्याकरण ''वर्णनात्मक प्रकार का शब्दनिष्पादक व्याकरणतन्त्र'' (Descriptive Generative Grammar) प्रतीत होता है ।

1.2 तन्त्र में अर्थ–निर्देश की आवश्यकता एवं प्रयुक्तियाँ :

यदि पाणिनि के व्याकरण का प्रकार वर्णनात्मक है, तो यह नितान्त आवश्यक होगा कि पाणिनि जब भी किसी पद की साधनिका बतायें तो वे यह भी कहें कि वहाँ किस अर्थ में अमुक प्रत्यय आ रहा है ? जैसे – किस लिङ्ग या वचन (सङ्ख्या) रूपी अर्थ को व्यक्त (या द्योतित) करने के लिए यह प्रत्यय प्रयुक्त किया जाता है ? यह तो किसी भी वैयाकरण को बताना ही होगा । अथवा स्तुति, निन्दा, आक्रोश, या त्वरा, आक्षेपादि रूप विशिष्ट मनःस्थितियाँ/मानसिक भावों का प्रकटीकरण करने के लिए प्रसिद्ध प्रकृति–प्रत्यय में कहाँ पर विशिष्ट ध्वनि परिवर्तन हुआ करता है ? यह भी बताना अनिवार्य है । अत एव यह सब विशद करने के लिए, पाणिनि को अपने वर्णनात्मक प्रकार के व्याकरण में, अर्थ–निर्देश करना जरूरी, बल्कि अनिवार्य बन गया है । कहने का तात्पर्य यह है कि लोक में प्रचलित नामपद एवं क्रियापदों की, किस प्रकृति + प्रत्यय के संयोजन से रूपरचना सम्पन्न होती है ? – इतना ही बताने से ''वर्णनात्मक प्रकार'' का व्याकरण नहीं कहलाता है । उसके लिए तो यह भी बताना परम आवश्यक होता है कि क़िस अर्थ में कौन सा प्रत्यय प्रयुक्त होता है ।

इस सन्दर्भ में अब यह देखना होगा कि – महर्षि पाणिनि ने अपने व्याकरणतन्त्र में (पदगत एवं वाक्यगत) अर्थों का निर्देश करने के लिए किन किन प्रयुक्तियों का प्रयोग किया है :–

पाणिनि ने अपने सूत्रों में प्रायः पञ्चमी या सप्तमी, षष्ठी एवं प्रथमा – इन तीन (सुप्) विभक्त्यन्त पदों का प्रयोग किया है । इन में से सप्तम्यन्त पदों का अर्थघटन करने के लिए सबसे पहले, अधिकरण कारक के तीन प्रभेद जानने पड़ेंगे । अधिकरण तीन प्रकार के होते हैं :–

(क) अभिव्यापक अधिकरण, (तिलेषु तैलम्)

(ख) औपश्लेषिक अधिकरण, (रामः कटे आस्ते) एवं

(ग) वैषयिक अधिकरण ।[4] — (ब्रह्मणि जिज्ञासा)

(किसी के मत में 'सामीपक' नामका एक चौथा भी अधिकरण होता है । यथा—गङ्गायां घोषः । अन्य लोग इसे औपश्लेषिक अधिकरण के अन्तर्गत समाविष्ट कर लेते हैं ।) पाणिनि ने अपने सूत्रों में जहाँ-जहाँ सप्तम्यन्त पद रखे हैं उनमें प्रायः औपश्लेषिकाधिकरण वाचिका सप्तमी विभक्ति का ही प्रयोग किया है । उदा. *इको यणचि । ६—१—७७, अतो गुणे ६—१—९७, वृद्धिरेचि । ६—१—८८ ॥* यहाँ पर 'अचि', 'गुणे' या 'एचि' जैसे जो सप्तम्यन्त पद है, उसका अर्थघटन करने के लिए *तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य । १—१—६६* जैसा परिभाषासूत्र प्रवृत्त होता है और 'अचि' जैसे पदों में परसप्तमी (या निमित्तसप्तमी) है—ऐसा बोध कराता है । इसी को औपश्लेषिक सप्तमी (या सामीपक अधिकरण वाचिका सप्तमी) कहते हैं । परन्तु जब *क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे । ६—१—८१, सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये । ३—२—७८, क्षयो निवासे । ६—१—२०१, षष्ठी चानादरे । २—३—३८* जैसे सूत्र आते हैं, और उनमें जो सप्तम्यन्त पद हैं वे वैषयिक अधिकरण के वाचक हैं । यहाँ *क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे । ६—१—८१* सूत्र से कहा जाता है — क्षेतुं शक्यं 'क्षय्यम्' और शक्यार्थ से भिन्न अर्थ व्यक्त करना अभीष्ट हो तो 'क्षेयम्' शब्द बनता है । यथा—क्षेतुं योग्यं क्षेयं पापम् । इसी तरह से *क्षयो निवासे । ६—१—२०१* सूत्र कहता है कि — 'निवास' रूप अर्थ का अभिधान करना विवक्षित हो तब, वह शब्द आद्युदात्त बनता है । यथा — क्षियन्ति निवसन्ति अस्मिन् इति 'क्षयः' ।[5] और 'निवास' से भिन्न अर्थ में वही शब्द अन्तोदात्त बनता है । जैसा कि — क्षयो वर्तते दस्यूनाम् । यहाँ पर विशिष्ट ध्वनिपरिवर्तन, पदरचना या स्वरवैषम्य बताने के लिए पाणिनिने अपने सूत्रों में

---

4. कर्तृकर्मव्यवहिताम् असाक्षाद् धारयत् क्रियाम् ।
उपकुर्वत् क्रियासिद्धौ शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम् ॥
उपश्लेषस्य चाभेदस्तिलाकाशकटादिषु ।
उपकारास्तु भिद्यन्ते संयोगिसमवायिनाम् ॥ (वा. प. ३—७—१४८, १४९)
द्रष्टव्यः वाक्यपदीयम् (Kāṇḍa III, Part–I), Ed. K. A. Subramania Iyer, Pub. Deccan College, Pune, 1963, (p. 348).

5. क्षये जागृहि प्रपश्यन् । ऋग्वेदः (१०—११८—१). "तुम (अपने) घर में देखते हुए जागृत रहो ।"

अर्थनिर्देश करना आवश्यक माना है । और ऐसे अर्थनिर्देशों को उल्लिखित करने के लिए सप्तमी विभक्ति का प्रयोग किया है । ऐसा अर्थनिर्देश करनेवाली सप्तमी ''वैषयिक सप्तमी'' होती है ।

(पाणिनि ने अपने सूत्रों में परसप्तमी अर्थात् निमित्तसप्तमी, एवं वैषयिक सप्तमी का प्रयोग करने के साथ साथ एक तीसरी भावलक्षणा सप्तमी (सति सप्तमी) का भी प्रयोग किया है । उदाहरण के लिए *कर्तृकर्मणोः कृति । २–३–६५.* यहाँ पर 'कृति' ऐसा सति सप्तम्यन्त पद कहता है कि ''वाक्य में कहीं पर भी कृदन्त शब्द का प्रयोग हो तब.....'' । अर्थात् यहाँ ''कृदन्त शब्द अव्यवहित पर में रहे तब'' ऐसा अर्थ नहीं होता है । प्रस्तुत चर्चा में, इन तीनों प्रकार के सप्तम्यन्त पदों में से केवल वैषयिक अधिकरण वाचक सप्तम्यन्त पद ही उपादेय हैं ।)

1.2.2 अर्थ–निर्देश के अन्य उपाय :

अर्थ–निर्देश के लिए पाणिनिने वैषयिक सप्तमीवाले पदों से अतिरिक्त जो एक अन्य उपाय का आश्रयण किया है वह 'इति' करण का प्रयोग है । जैसा कि – *तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् । ५–१–९४* सूत्र से 'अस्य अस्ति' एवं 'अस्मिन् अस्ति' ऐसे अर्थ को प्रकट करने की विवक्षा होती है, तब /–मतुप्/ प्रत्यय लगता है । यथा – (१) गावोऽस्य सन्ति = गोमान् देवदत्तः । (२) वृक्षाः अस्मिन् सन्ति = वृक्षवान् पर्वतः । यहाँ पर काशिकाकार कहते है कि – इतिकरणो विवक्षार्थः । इस प्रकार यहाँ पाणिनि ने इतिकरण से अर्थ–निर्देश किया है; वैषयिक सप्तमी का प्रयोग नहीं किया है ।

कहीं स्थान ऐसे भी है कि पाणिनि ने जहाँ अर्थनिर्देश की आवश्यकता ही नहीं समझी है । यथा – *सत्यापपाश..........चुरादिभ्यो णिच् । ३–१–२५*

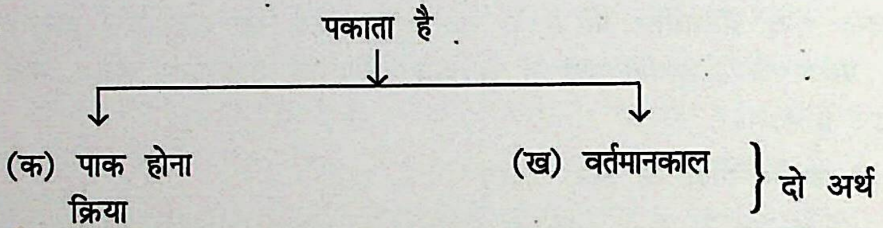
1.3 वाक्यनिष्पत्ति की प्रक्रिया का आरम्भ बिन्दु ही 'अर्थ' :

अब यह विवेचनीय है कि पाणिनीय व्याकरणतन्त्र में 'अर्थ' का स्थान कहाँ पर है ? 'वाक्य' का अपर पर्याय तिङन्त पद है । क्योंकि 'व्याकरण–महाभाष्य' में वाक्य का लक्षण देते हुए **'एकतिङ् (वाक्यम्)'**[6] ऐसा लक्षण दिया गया है । एक तिङन्त पद में पूरा वाक्यार्थ संनिहित रहता है । अतः 'तिङन्त पद से कौन कौन से अर्थ प्राप्त होते हैं – ऐसा सोचने पर मालूम पड़ता है कि (१) धात्वर्थ (व्यापार एवं फल), (२) काल, (३) कर्तृकारक या कर्मकारक (या भाव) एवं (४) सङ्ख्या – ये चार अर्थ प्राप्त होते हैं । उदाहरणार्थ – 'देवदत्तः

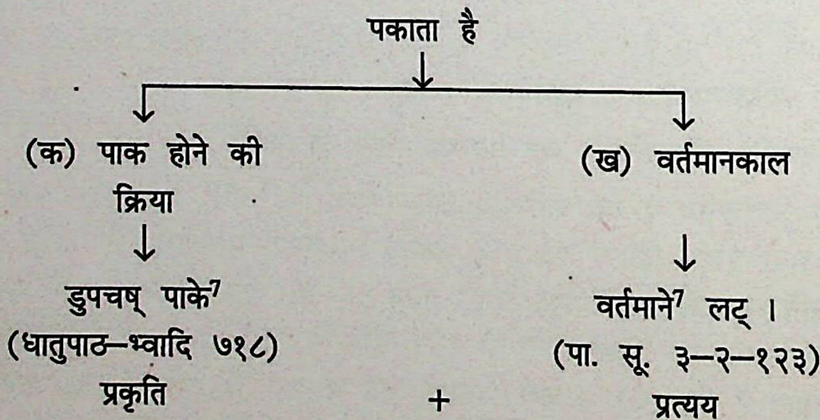
---

6. समर्थः पदविधिः । (पा. सू. २–१–१) इत्यत्र वार्त्तिकम् । द्रष्टव्यम् व्याकरण–महाभाष्यम् ।

तण्डुलान् पचति ।' वाक्य के 'पचति' क्रियापद को लिया जाय तो इसमें से (१) विक्लित्यनुकूल व्यापार, (२) वर्तमान काल, (३) प्रथम पुरुष रूप कर्तृकारक एवं (४) कर्तृकारक की एकत्व विशिष्ट संख्या का बोध होता है । लेकिन अब हमें यह देखना है कि एक तिङन्त पद से बोधित होने वाले उपर्युक्त चारों अर्थों का स्थान पाणिनीय व्याकरणतन्त्र में कहाँ पर रखा गया है ? मान लीजिए कोई वक्ता अपने विवक्षित अर्थ रूप "राम लकड़ी से चावल पकाता है ।" जैसा कोई वाक्य संस्कृत में रूपान्तरित करना चाहता है । तो उसे "पकाता है" इस क्रियापद में से दो अर्थ की प्रतीति होती है:–



रूप–साधनिका के प्रथम सोपान पर, इन दो अर्थों की प्रतीति को संस्कृत में रूपान्तरित करने के लिए (पाणिनीय तन्त्र का सहारा लिया जाय तो) पाणिनि का धातुपाठ कहता है कि "**डुपचष् पाके**" (भ्वादि–गण ७१८ वाँ धातु) धातुरूप प्रकृति का चयन किया जाय; और अष्यध्यायी–सूत्रपाठ से ***वर्तमाने लट् । ३–२–१२३*** सूत्रविहित लट् प्रत्यय लिया जाय । ये दोनों – 'पच्' रूपा प्रकृति, एवं 'लट्' रूप प्रत्यय–पूर्वोक्त दो अर्थों का रूपान्तरण करना शुरू करते है ।



(पाणिनि ने धातुपाठ में सभी धातुओं का अर्थप्रदर्शनपूर्वक परिगणन किया है, और वह सभी अर्थों का निर्देश सप्तमी विभक्ति में किया है । इसका मतलब यह होता है कि

(क) पाक–क्रिया रूप अर्थ में (= अर्थ को व्यक्त करने के लिए) 'डुपचष्' प्रकृति प्रयुक्त होती है; और (ख) वर्तमान काल में अमुक क्रिया हो रही है, ऐसा व्यक्त करने के लिए धातु के बाद लट् प्रत्यय को रखा जाता है। इस तरह आरम्भ में, निश्चित 'क्रिया' एवं 'काल' रूप अर्थ व्यक्त करने की वक्ता की इच्छा को ध्यान में रखकर, उक्त दोनों अर्थों को व्यक्त करने में सक्षम प्रकृति + प्रत्यय का चयन किया जाता है।

अब रूपसाधनिका के द्वितीय सोपान पर एक तीसरा अर्थ (कर्तृकारक या कर्मकारक या भाव रूप अर्थ) कैसे सन्निविष्ट होता है ? वह देखेंगे :–

पच् +	लट्
↓	↓
सकर्मक / अकर्मक	ल् (अ, ट् इत्संज्ञक, लोप)
? / ?	↓
√ / ×	वक्ता की विवक्षा को ध्यान में रखते हुए अब *लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः । ३–४–६९* सूत्र से पूछा जाता है कि – उपरिनिर्दिष्ट ल् प्रत्यय क्या 'कर्ता' अर्थ में प्रयुक्त करना चाहते हो या 'कर्म' अर्थ में ?[7]
↓	
कर्तरि / कर्मणि	
(मान लो कि विवक्षा से कर्तृकारक को व्यक्त करना निर्धारित किया गया है।)	

यहाँ पर 'कर्तृकारक' रूप या 'कर्मकारक' रूप विवक्षितार्थ ल् प्रत्यय (और उसके स्थान पर आदिष्ट तिबादि तिङ् प्रत्यय) से व्यक्त होगा ऐसा तृतीय सोपान पर निर्धारित किया जाता है।

अब चतुर्थ सोपान पर जब –

पच् + ल्

↓

लस्य । ३–४–७७ के अधिकार में, *तिप्–तस्–झि..... इड्–वहि–महिङ् ।* ३–४–७८ सूत्रोक्त तिङ् प्रत्ययों का विधान होने पर,

---

7. "राम लकड़ी से चावल पकाता है" (कर्तरि प्रयोग) – ऐसा कहना चाहते हो, कि "राम के द्वारा चावल पकाया जाता है" (कर्मणि प्रयोग) ऐसा कहना चाहते हो ?

ल् कार स्थानि के स्थान पर

(प्रथम पुरुष) तिप् – तस् – झि
(मध्यम पुरुष) सिप् – थस् – थ } नव परस्मैपदसंज्ञक
(उत्तम पुरुष) मिप् – वस् – मस्

प्रत्यय आदेश के रूप में आ कर उपस्थित होते हैं ।

तब – (१) (क) *युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः ।*[8] *१–४–१०५*

(ख) *अस्मद्युत्तमः । १–४–१०७, एवं*

(ग) *शेषे प्रथमः । १–४–१०८*

(२) *द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने*[7] *। १–४–२२* सूत्र उपस्थित होते हैं ।

यहाँ पर, प्रथम (१) क, ख, ग सूत्रों से यह देख लेना पडता है कि ल् स्थानिक तिङ् प्रत्यय से जो 'कर्तृकारक' रूप तृतीय अर्थ व्यक्त करने की विवक्षा हमने पूर्व में निर्धारित की थी वहीं कर्तृकारक का वाचक शब्द 'युष्मद्' उपपद में प्रयुज्यमान रहे या अप्रयुज्यमान रहे (अर्थात् गम्यमान रहे) तब, तिबादि नव परस्मैपदसंज्ञक प्रत्ययों में से मध्यम पुरुषसंज्ञक "सिप् – थस् – थ" प्रत्ययों का चयन करना है । यदि विवक्षित कर्तृक़ारक वाचक शब्द 'अस्मद्' उपपद में है, तो उत्तमपुरुष संज्ञक "मिप् – वस् – मस्" प्रत्ययों का ग्रहण करना है, परन्तु हम देखते हैं कि हमारा जो विवक्षित वाक्य है वह तो "राम (कर्तृकारक) लकड़ी से चावल पकाता है" – ऐसा है; उसमें आया हुआ कर्तृकारक वाचक शब्द न तो 'युष्मद्' वाच्य है और न ही 'अस्मद्' वाच्य है । 'राम' तो अस्मद्–युष्मद् भिन्न (= प्रथम पुरुष) होने से ल् स्थानिक परस्मैपद संज्ञक उपर्युक्त नव प्रत्ययों में से प्रथम पुरुष संज्ञक "तिप् – तस् – झि" प्रत्ययों का ही अन्त में चयन करना होगा ।

तत्पश्चात् द्वितीय (२) *द्व्येकयो*[7] *द्विवचनैकवचने । १–४–२२* सूत्र से कहा जाता है कि कर्तृकारक वाचक (राम) शब्द यदि द्वित्वसंख्या विशिष्ट है, तो द्विवचन–संज्ञक /–तस्/ प्रत्यय का चयन किया जाय । और वह शब्द यदि एकत्वसंख्या विशिष्ट है (अर्थात् 'राम' कर्ता की संख्या एक ही है) तो तिप् – तस् – झि – ऐसे तीन प्रत्ययों में से 'एकवचन' संज्ञक /–तिप्/ प्रत्यय चुना जाय ॥ इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि निश्चित संख्या रूपी

8. १–४–१०५, १०७ एवं १०८ सूत्रों में आयी हुई सप्तमी भावलक्षणा सति सप्तमी है । (वह औपश्लेषिक, निमित्तसप्तमी या वैषयिक सप्तमी नहीं है ।)

चतुर्थ अर्थ की अभिव्यक्ति करने के लिए नव प्रत्ययों में से कोई एक प्रत्यय रखा जाता है। "राम चावल पकाता है" ऐसे वाक्य में राम की संख्या एक है, इस लिए एकवचन संज्ञक /–तिप्/ प्रत्यय को √पच् धातु के बाद रखा जाता है।

अब अन्त में, 'पच् + तिप्' की साधनिका (= रूपप्रक्रिया) आगे बढाई जाती है। 'तिप्' प्रत्यय जो कर्तृकाक का वाचक है, उसका अनुवादक (या अङ्ग संज्ञासाधक) /–शप्–/ विकरण प्रत्यय दोनों के बीच में लगाया जाता है (कर्तरि शप्। ३–१–६८)। परिणाम स्वरूप "पच् + शप् + तिप्।" में से → पच् + अ + ति → पचति। जैसे वाक्य की निष्पत्ति सम्पन्न होती है।

उपर्युक्त रूपप्रक्रिया का क्रमशः अवतार देखने पर मालूम होता है कि किसी भी तिङन्त पद से प्राप्त होने वाले (१. धात्वर्थ क्रिया, २. काल, ३. कर्तृ या कर्मकारक या भाव एवं ४. संख्यारूप) चारों अर्थों को पाणिनि ने प्रक्रिया के आरम्भ में ही रखा है। बाद में रूपप्रक्रिया क्रमशः आगें बढ़ती हुई, अन्त में लोक में प्रयोगार्ह हो ऐसे साधु वाक्य को निष्पन्न करके वक्ता के हाथ में रख देती है। इस साधनिका को एक उपमा के माध्यम से स्पष्ट करें तो – रसनिष्यन्दक–यन्त्र में इक्षुदण्ड (ईख) पहले रखा जाता है, जिसको in–put कहेंगे, बाद में यन्त्र को सञ्चालित करने पर दूसरी ओर ईखका रस बाहर निकल कर आता है; जिसको out–put कहेंगे। इसी तरह से पाणिनि ने भी अपने शब्दनिष्पादक तन्त्र (Generative grammar) में "अर्थ" को आरम्भबिन्दु पर ही, in–put के रूप में रखा है। एकबार अर्थवाचिका प्रकृति + प्रत्यय का निर्धारण/चयन हो जाने के बाद, उसी के उपर स्थान्यादेशभाव रूप प्रक्रिया के माध्यम से (परस्परान्वित) सुबन्त एवं तिङन्त पद रूप 'वाक्य' अन्तमें, out–put के रूप में, वक्ता के हाथ में आ जाता है।

पाणिनि ने धातुपाठ में जो (वैषयिक अधिकरणवाचक) सप्तम्यन्त पदों से धात्वर्थों का निर्देश किया है; और *वर्तमाने लट्। ३–२–१२३* य *द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने। १–४–२२* या *बहुषु बहुवचनम्। १–४–२१* जैसे वैषयिक अधिकरण वाचक सप्तम्यन्त पदवाले सूत्र लिखकर, रूपप्रक्रिया में भी सबसे पहले विभिन्न अर्थों का पुरस्कार किया है उससे यह सिद्ध होता है कि पाणिनि के तन्त्र में 'अर्थ' का स्थान रूपप्रक्रिया के आरम्भबिन्दु पर ही है।

1.4 वक्तृपक्ष में 'अर्थ' की संकल्पना आरम्भ में ही होनी स्वाभाविक है :

पाणिनि के शब्दनिष्पादक–तन्त्र में 'वाक्य' की निष्पत्ति (एवं वाक्यान्तर्गत–परस्परान्वित सुबन्त–तिङन्त पदों की युगपत् निष्पत्ति) बताई गई है।[9] परन्तु उन में जो 'अर्थ' का स्थान

9. पाणिनीय तन्त्र में प्रथमान्त पद को छोड़कर किसी भी अन्य पद की एकाकी–निरपेक्ष–सिद्धि नहीं होती है। अतः पाणिनिने वाक्यसंस्कारपक्ष का व्याकरण लिखा है; पदसंस्कारपक्ष का व्याकरण नहीं – यह सिद्ध होता है।

प्रक्रिया के आरम्भबिन्दु पर ही रखा गया है, और उसके बाद उन्हीं अर्थों का प्रकृति + प्रत्यय में परिवर्तन या संक्रमण किया जाता है – ऐसा बताया गया है वह वक्तृपक्ष से देखा जाय तो स्वाभाविक भी है; बल्कि वही स्वाभाविक है । दूसरे शब्दों में कहें तो पाणिनि ने वक्तृपक्ष से वाग्व्यवहार किस क्रम से शुरू होता है उसका सूक्ष्मेक्षिका से आकलन करके, उसी स्वाभाविक/नैसर्गिक क्रम को शास्त्र में तान्त्रिक–क्रम से परिवर्तित कर दिया है ! इसी बात को भर्तृहरिने भी 'वाक्यपदीय' में कहा है :–

वितर्कितः पुरा बुद्ध्या क्वचिद् अर्थे निवेशितः ।
करणेभ्यो विवृतेन ध्वनिना सोऽनुगृह्यते ॥ (वा. प. १–४७)

"आरम्भ में बुद्धि के द्वारा (स्फोट रूप नित्यशब्द को) किसी (विवक्षित) अर्थ में निवेशित किया जाता है (= स्फोटरूप नित्यशब्द का किसी अर्थ के साथ तादात्म्य सिद्ध किया जाता है); बाद में ताल्वादि उच्चारण स्थानों से विवृत (उच्चरित) किये गये ध्वनिओं से वह (विवक्षित अर्थ) अनुगृहीत किया जाता है (अर्थात् व्यक्त किया जाता है) ।"[१०]

संक्षेप में कहें तो – पाणिनि ने अपने शब्दनिष्पादक–तन्त्र में अर्थतत्त्व को जो आरम्भबिन्दु पर रखा है, वह वक्तृपक्ष की दृष्टि से स्वाभाविक भी है । यह बात पाणिनि की महिमा कीं द्योतक है ।

2.0 'अर्थ' का स्वरूप :

2.1.1 'अर्थ' शब्द का निर्वचन :

'निरुक्त' वेदाङ्ग में 'अर्थ' शब्द का निर्वचन करते हुए यास्कने लिखा है कि – **अर्थोऽर्तेः । अरणस्थो वा ।** (निरुक्तम् १–६–१८). (१) √ऋ गतौ धातु से 'अर्थ' शब्द बना है । अर्थात् जो जाता है (निकलता है) वह 'अर्थ' है । (२) दूसरे निर्वचन के अनुसार – जो (किसी के) जाने के बाद भी खड़ा रहता है; वह 'अर्थ' है ।[11] दोनों ही निर्वचनों का तात्पर्यार्थ स्पष्ट करते हुए टीकाकार दुर्गने लिखा है कि – **अर्थोऽर्तेः गतिकर्मणः । अर्थ्यते ह्यसावर्थिभिः ।**

---

10. **वाक्यपदीयम्** । प्रथमो भागः (स्वोपज्ञसहितम्), सं. रघुनाथ शर्मा, प्रका. सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालयः, वाराणसी, १९७६ (पृ. ९४).

11. **निरुक्तम्** । (द्वितीयो भागः) गुरुमण्डल ग्रन्थमाला–१०, सं. मनसुखराय मोर, कलकत्ता, १९५२, (पृ. १२४). (दुर्गस्य ऋज्वर्थाख्यटीकया सहितम्) ।

''धन की कामनावाले लोगों के द्वारा वह (धन) ले जाया जाता है ।'' यहाँ पर दुर्गने 'अर्थ' शब्द का केवल 'धन' अर्थ ही लिया है । परन्तु स्कन्द–महेश्वरने लिखा है कि – **यस्तावत् शब्दस्यार्थः, स तस्माद् गम्यते । यो हिरण्यादिः सोऽप्यनादिना व्यवहारेणान्यस्मात् पुरुषाद् अन्यं गच्छति ।**[12] अर्थात् – जो शब्द का अर्थ (Word–meaning) है, वह शब्द (= ध्वनिश्रेणी) से निकलता है (= बाहर जाता है = श्रोता को प्राप्त होता है) इसी लिए शब्दार्थ को 'अर्थ' कहते हैं । और जो सुवर्णादि रूप अर्थ (= धन) है, वह भी अनादिकाल से एक आदमी के पास से दूसरे आदमी के पास जाता है, इसी लिए उसको भी 'अर्थ' कहते हैं ।

उपर्युक्त दूसरे निर्वचन को विशद करते हुए दुर्गने लिखा है कि – **अरणस्थो वा । यदास्य स्वामी अरतिं गच्छति इतो लोकाद् अमुं लोकं, तदायम् इह एव तिष्ठति, न अनेन एव सह अमुं लोकं गच्छति, दीनारादिः अर्थः; तत्सामान्याद् इतरोऽपि शब्दार्थोऽर्थ उच्यते ॥** अर्थात् धन का जो स्वामी होता है उसके उपरत हो जाने के बाद भी, जो (धन) इस लोक से उस (स्वर्ग) लोक में नहीं जाता है, किन्तु यहीं पर रह जाता है इसी को ''अर्थ'' कहते हैं । जैसा कि 'दीनार' नामक जो धन(के सिक्के) हैं, उन्हें 'अर्थ' कहते हैं । और इसी के साम्य पर शब्दार्थ को भी 'अर्थ' कहते हैं । (क्योंकि वक्ता के द्वारा उच्चरित की गई ध्वनिश्रेणी का नाश हो जाने के बाद भी, श्रोता के मन में जो रह जाता है वह 'अर्थ' है ।) यहाँ पर '**अरणस्थो वा**' जैसे निर्वचन का अर्थ **अरणे गमने कृतेऽपि, यः तिष्ठति, सः अर्थः ।** ऐसा किया गया है ।[13]

उपर्युक्त दोनों ही निर्वचनों पर विचार करने पर तात्पर्यार्थ निकलता है कि – (१) वैखरी वाणी से उच्चरित जो शब्द है (अर्थात् जो ध्वनिश्रेणी है) उसमें से अर्थ निकलता है; और (२) वह (अर्थ) श्रोता के मन में स्थिर रहता है ॥ परन्तु यह दोनों ही निर्वचन और उनके फलितार्थ तो यही बताते हैं कि 'निरुक्त' वेदाङ्ग में 'अर्थ' का स्वरूप केवल श्रोतृपक्ष को

12. **निरुक्तम्** (स्कन्दस्वामिन्–महेश्वर), (अ० १–६) सं. लक्ष्मण सरूप, प्रका. महेरचंद लछमनदास, दिल्ली, १९८२.
13. स्कन्द–महेश्वर ने भी दुर्गाचार्य जैसा ही व्याख्यान किया है :– अरणं गमनं (= तिरोधानं) शब्दस्य तावद् उच्चरितस्य तिरोधानं, तस्मिन् अर्थस्तिष्ठति, न शब्देन सह तिरोधीयते । इतरत्रापि गमनम् अरणं स्वामिनः तस्मिन् हिरण्यादिः अर्थः तिष्ठति । न स्वामिना सह गच्छति । (पृ. ११०)

ध्यान में रखकर ही प्रस्तुत किया गया है । जब कि पाणिनि ने वक्तृपक्ष को पुरस्कृत करके 'अर्थतत्त्व' के विभिन्न स्वरूपों (= अर्थविधाओं) को प्रस्तुत किया है । अब आनेवाले पृष्ठों में उसीकी चर्चा की जायेगी ॥

2.1.2 द्विविध दृष्टि से अर्थ स्वरूप की विचारणा :

इस व्याख्यान के आरम्भ में, (1.1 में,) कहा गया है कि पाणिनि ने अपना जो 'अष्टाध्यायी' व्याकरण लिखा है, वह वर्णनात्मक (Descriptive) प्रकार का भी है और शब्दनिष्पादकतन्त्र स्वरूप का (Generative grammar) भी है । अतः इन दोनों दृष्टिओं से पाणिनि के मत में विविध सन्दर्भों में 'अर्थ' का स्वरूप कैसा है ? यह विवेचनीय होगा ।

2.2 'शब्दनिष्पादक–तन्त्र' में अर्थ का स्वरूप :

जैसा कि पहले कहा गया है पाणिनि ने अपने शब्दनिष्पादक–तन्त्र (Generative grammar अर्थात् Word–producing machine) में 'अर्थ' को आरम्भबिन्दु में ही in–put के रूप में रखा है । यद्यपि यह बात बहुत अच्छी तरह से डॉ. जोहानीस ब्रोन्खोर्स्ट ने कही है ।[14] परन्तु उन्होंने यह नहीं कहा कि पाणिनि का तन्त्र संयोजनात्मक पद्धति से शब्दनिष्पादक तन्त्र के रूप में लिखा गया है, इसी लिए 'अर्थ' को आरम्भ में रखना आवश्यक बन गया है । एवमेव उन्होंने यह भी नहीं कहा है कि पाणिनीय व्याकरण में विभिन्न प्रकार के अर्थों को ध्यान में लिया गया है; और उन सभी प्रकार के अर्थप्रदर्शन के द्वारा पाणिनि ने किस प्रकार के विविध कार्य सम्पन्न किये हैं ।

तन्त्र के आरम्भबिन्दु पर ही रखे गये ये 'अर्थ' प्रायः 'व्याकरणिक अर्थ' हैं और कुछ 'विशिष्टार्थ' भी हैं । इन दोनों में से 'व्याकरणिक अर्थ' के दो प्रमुख भेद दिखाई पड़ते हैं:– (१) वाक्यगत अर्थ एवं (२) पदगत अर्थ ।

2.2.1 व्याकरणिक–अर्थ :

2.2.1 (1) वाक्यगत अर्थ :

आधुनिक काल में डॉ. शिवराम दत्तात्रेय जोशी (पूणें) इत्यादि मूर्धन्य वैयाकरणों ने यह साधार सिद्ध किया है कि पाणिनि ने पदसंस्कार पक्ष का नहीं; परन्तु वाक्यसंस्कार–पक्ष का

---

14. Johannes Bronkhorst : **The role of meaning in Pāṇini's grammar**, Published in `Indian Linguistics; (Vol. 40), 1979, pp.146–157.

ही व्याकरण लिखा है ।[15] अतः यह देखना होगा कि पाणिनि ने 'वाक्यगंत अर्थ' का निर्देश किस तरह से और कहाँ कहाँ पर किया है ?

(१) भाषा में प्रयुक्त होनेवाले वाक्य त्रिविध होते हैं: (क) कर्तरिवाच्य, (ख) कर्मणिवाच्य, एवं (ग) भाववाच्य । वाक्य में अनिवार्य रूप से आनेवाले क्रियापद की धातु यदि सकर्मक होती है, तो उसमें से कर्तरिप्रयोग अथवा कर्मणिप्रयोगवाला वाक्य बन सकता है और यदि क्रियावाचक धातु अकर्मक होती है, तो उसमें से कर्तरिवाच्य अथवा भाववाच्य हो सकता है । इन दोनों अवस्थाओं में (= धातु चाहे सकर्मक हो या अकर्मक हो) एक कर्तरि–प्रयोग उभय साधारण है । अतः सम्भव है कि कोई भी वैयाकरण अपने व्याकरणतन्त्र में सबसे पहले कर्तरिप्रयोगवाली वाक्यरचना मूल में 'नींव की ईंट' के रूप में रखेगा और बाद में रूपान्तरण (Transformational grammar) के नियम दे कर, अन्य दो प्रकार की वाक्यरचनायें निष्पादित करके दिखायेगा, परन्तु पाणिनि ने ऐसा नहीं किया है । चूंकि वक्ता के मन में ऐसा कभी नहीं होता कि वह पहले कर्तरि प्रयोग करने की सोचे और बाद में परिस्थिति वशात् उसी वाक्य को अन्य प्रकार में बदल कर बोले ! पाणिनि के तन्त्र में भी, जैसा कि वक्ता के मन में होता है, वाक्यनिष्पत्ति की प्रक्रिया के आरम्भ में ही ***लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः । पा. सू. ३–४–६९*** सूत्र से वक्ता की विवक्षा पूछी/जानी जाती है कि धातु के बाद रखे गये ल् कार से कर्तृकारक वाच्य विवक्षित है या कर्मकारक (या भाव) विवक्षित वाच्य है । अर्थात् पाणिनि ने अपने शब्दनिष्पादक तन्त्र में आरम्भ से ही, कर्तरि वाक्य रचना की तरह, कर्मणि वाक्यरचना भी मूल रचना के रूप में उत्पन्न हो सकती है/होती है इस तरह की गतिविधि बताई है । यहाँ पर साथ में यह भी अवगत करना है कि पाणिनि ने ***लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः । ३–४–६९*** सूत्र से 'वाक्यगत अर्थ' का ही निरूपण किया है ।[16]

---

15. **Vyākaraṇa Mahābhāṣya – Vibhaktyāhnika** Ed. & Trans. by S. D. Joshi & J. A. F. Roodbergen, University of Poona, Pune, 1980 (Introduction, p. i, vi to XV.)

16. यहाँ स्मर्तव्य है कि नैयायिकों के मत में – "प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यक शाब्दबोधः" होता है । जिसके परिणाम स्वरूप 'चैत्रः हरिं भजति ।' वाक्य का "हरिकर्मकप्रीत्यनुकूलकृतिमान् चैत्रः ।" ऐसा शाब्दबोध होता है । इसका तात्पर्य यह है कि 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः । (३–४–६९)' सूत्रविहित ल् कार का कर्तृ–कर्मादि अन्यतमार्थ पूरे वाक्य का ही अर्थ कहा जाता है । (नैयायिको के अनुसार भी, कोई भी ल् कार कर्तृ/कर्मादि अर्थ में प्रयुक्त होता है ।)

(२) दूसरा उदाहरण – *वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद् वा । पा. सू. ३–३–१३१.* "वर्तमानकाल जिसके समीप में है ऐसे भूत एवं भविष्यत् काल में प्रवर्तमान धातु में वर्तमान काल जैसे ही प्रत्यय विकल्प से होते हैं ।" यथा–कदा देवदत्त आगतोऽसि । "देवदत्त ! तू कब आया ?" इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि – अयम् आगच्छामि । आगच्छन्तमेव मां विद्धि । "बस, मैं आ ही रहा हुँ ।" अथवा – कदा देवदत्त गमिष्यसि ? देवदत्त, तू कब जायेगा ? इसके उत्तर में कहा जाता है – एष गच्छामि । "मैं जा ही रहा हूँ ।" इस सूत्र की 'काशिकावृत्ति' में लिखा है कि – यो मन्यते – "गच्छामीति पदं वर्तमाने काल एव वर्तते, कालान्तरगतिस्तु वाक्याद् भवति । न च वाक्यगम्यः कालः पदसंस्कारवेलायाम् उपयुज्यते" इति । तादृशं वाक्यार्थप्रतिपत्तारं प्रति प्रकरणमिदं नारभ्यते ॥[17]

इसका विवरण इस प्रकार है :– 'आगच्छामि' ऐसा पद (केवल) 'वर्तमानकाल' अर्थ में ही प्रवृत्त होता है । लेकिन यदि सन्दर्भवशात् जो (भूत–भविष्यद् आदि रूप) कालान्तर की अवगति होती है, वह तो वाक्य का ही अर्थ होता है । [अतः, ऐसे भूत–भविष्यदादि रूप विशेषार्थ यदि वाक्य में से निकलता है तो प्रस्तुत सूत्र की कोई जरूरत नहीं है ।] अर्थात् वाक्य से प्राप्त होनेवाला (भूत–भविष्यदादि) 'काल' रूप अर्थ पदसंस्कारपक्ष में कभी भी उपयुक्त नहीं होता है (जुड़ता नहीं है ।) – इस तरह की ज़िनकी विचारधारा है (अर्थात् यह भूत–भविष्यदादि रूप विशेष काल की प्रतीति को जो 'वाक्य' का अर्थ समझते है), उन लोगों के लिए इस प्रकरण (३–३–१३१ से १३८ सूत्रों) की प्रस्तुति नहीं हुई है ॥

काशिकाकार की उपर्युक्त चर्चा का विशद अर्थ इस प्रकार है :– जो लोग ऐसा मानते हैं कि पाणिनीय व्याकरण पदसंस्कार–पक्ष को ही प्रस्तुत करता है (और भूत–भविष्यद् रूप विशेषार्थ तो 'वाक्य' का अर्थ बनता है) इन के लिए ३–३–१३१ इत्यादि आठ सूत्रों की आवश्यकता नहीं है । क्योंकि पाणिनि ने यदि पदसंस्कारपक्ष ही प्रस्तुत किया हो तो *वर्तमाने लट् । ३–२–१२३* सूत्र से पहले ही, वर्तमानकाल का रूप बन जायेगा, और बाद में, उसी वर्तमानकालिक 'आगच्छामि' पद का वाक्य में प्रवेश होने के बाद "समीप का भूत" या "समीप का भविष्य" रूप अर्थ तो सन्दर्भवशात् (वाक्यार्थ के रूप में) प्राप्त

17. **काशिकावृत्तिः** (तृतीयो भागः), सं. द्वारिकादासः शास्त्री, कालिकाप्रसादः शुक्लश्च । तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९६६, (पृ. ९९–१००)

होगा । अतः 'समीप का भूत' या 'समीप का भविष्य' रूप वाक्यार्थ का विधान करने के लिए ३–३–१३१ जैसे सूत्रों की रचना करनी आवश्यक नहीं है ।

परन्तु जो लोग ऐसा मानते हैं कि पाणिनि ने (सिद्धान्तरूप से) वाक्यसंस्कार पक्ष ही प्रस्तुत किया है, उनके मत से तो *'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा ।' ३–३–१३१* इत्यादि सूत्रों के द्वारा, वाक्यनिष्पत्ति की प्रक्रिया के आरम्भ में ही 'समीप का भूत' एवं 'समीप का भविष्यद्' रूप वाक्यार्थ का (in–put के रूप में) विधान किया गया है । और इस दृष्टि से, ३–३–१३१ इत्यादि सूत्र अनावश्यक नहीं; बल्कि आवश्यक ही है ॥

(३) वाक्यगत अर्थ का विधान करनेवाले अन्य सूत्र भी बताए जा सकते हैं :– *लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ । ३–३–१३९, क्रियासमभिहारे लोट्० । ३–४–२, कामप्रवेदनेऽकच्चिदिति । ३–३–१५३* एवं *आभीक्ष्ण्ये णमुल् च । ३–४–२२* इत्यादि ॥

पायं पायं व्रजति । (अथवा पीत्वा पीत्वा व्रजति ।) जैसे उदाहरण में पूर्वकालिक क्रिया रूप अर्थ का विधान करने के लिए /–क्त्वा/ प्रत्यय बताया गया है । परन्तु उसी वाक्य में यदि 'आभीक्ष्ण्य' रूप विशेषार्थ जोड़ना चाहते हों तो /–णमुल्/ प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है । अतः *आभीक्ष्ण्ये णमुल् च । ३–४–२२* सूत्र में आया हुआ सप्तम्यन्त पद वाक्यगत अर्थ का विधान करने के लिए प्रयुक्त हुआ है ।

2.2.1 (2) पदगत अर्थ :

पाणिनि ने वाक्य में दो तरह के पदों (सुबन्त एवं तिङन्त) का स्वीकार किया है । सुबन्त पद में से लिङ्ग, वचन (संख्या) और कारकादि रूप अर्थ प्राप्त होते हैं; और तिङन्त पद में से व्यापार, काल, पुरुष और वचनादि रूप अर्थ प्राप्त होते हैं । ऐसे लिङ्ग, वचन, काल आदि रूप अर्थ को हम 'व्याकरणिक अर्थ' (Grammatical–meaning) कह सकते हैं । पाणिनि ने इस प्रकार के 'अर्थ' को भी, पदसिद्धि की आरम्भिक अवस्था में ही in–put के रूप में, प्रस्तुत किया है ।

उदाहरण–स्वरूप कतिपय सूत्र देखें तो *द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने । १–४–२२, बहुषु बहुवचनम् । १–४–२१, कर्मणि द्वितीया । २–३–२, अपादाने पञ्चमी । २–३–२८, वर्तमाने लट् । ३–२–१२३, परोक्षे लिट् । ३–२–११५* इत्यादि । कभी कभी उपर्युक्त व्याकरणिक अर्थों से भिन्न/विशेष अर्थ भी रूपसाधनिका के आरम्भबिन्दु पर in–put के रूप में रखे जाते हैं । जैसा कि – *अपवर्गे तृतीया । २–३–६, हेतौ । २–३–२३, कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे*

P-4

(द्वितीया) । २–३–५ ॥ धातोः कर्मणः समानकर्तृकाद् इच्छायां वा (सन्) । ३–१–७ इन सूत्रों में आये हुए सभी सप्तम्यन्त पद वैषयिक सप्तमीवाले हैं; और पाणिनि ने अर्थनिर्देश करने के लिए ही उनको रखा है ।

तिङन्त पद की सिद्धि में लडादि प्रत्ययों के पूर्व में जो धातुरूपा प्रकृति रहती है, उसको क्रियावाचिका मानी गई है । *भूवादयो धातवः । १–३–१* सूत्र पर वृत्तिकार कहते हैं – क्रियावाची भू – वा – इत्यादि को धातुसंज्ञा होती है । परन्तु किस धातु का क्या अर्थ है; अर्थात् अमुक धातु जिस अर्थ को व्यक्त करती है उसका ज्ञान कहाँ से होता है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर, (जैसा कि डॉ. जोहानीस ब्रोन्खोर्स्टने बताया है) पाणिनि ने अपने धातुपाठ में प्रत्येक धातु का अर्थ प्रदर्शन किया ही है । उदाहरण – **भू सत्तायाम् । गम्लृ गतौ । डुकृञ् करणे** । इत्यादि । यहाँ पर प्रत्येक अर्थवाचक शब्द को भी पाणिनिने सप्तमी विभक्ति में रखा है । अतः '**भू सत्तायाम्**' का अर्थ होगा कि सत्ता अर्थ में 'भू' धातु का प्रयोग होता है । यानें रूपसाधनिका के प्रथम चरण में ही, अर्थनिर्देश पुरस्सर ही प्रकृति + प्रत्यय की स्थापना की जाती है । इस तरह पाणिनि ने अपने शब्दनिष्पादक तन्त्र में कोशगत अर्थ एवं व्याकरणिक अर्थों को आरम्भविन्दु पर रखे है ।

2.2.2 विशिष्टार्थों का प्रदर्शन :

पाणिनि ने शब्दनिष्पादक तन्त्र में लिङ्ग–वचनादि रूप व्याकरणिक अर्थों को आरम्भबिन्दु पर स्थापित करने के साथ साथ, भाषाकीय स्तर पर प्रतिबिम्बित होनेवाले वक्ता के कतिपय मानसिक भावों या मनुष्य के विशिष्ट स्वरूपों का प्रवर्तन इत्यादि विशिष्ट अर्थ भी भाषाकीय स्तर पर जो प्रतिविम्वित होते है, उनका भी प्रदर्शन किया है । उदाहरण के स्वरूप में देखें तो –

(१) **सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये । ३–२–७८.** "जाति वाचक न हो ऐसा कोई शब्द उपपद में रहो और 'ताच्छील्य' अर्थ गम्यमान रहे तब, धातुसे पर में /–णिनि/ प्रत्यय होता है।":– उष्णं भोक्तुम् शीलम् अस्य इति उष्णभोजी ॥ उष्ण + भुज् + णिनि – उष्णभोजिन् ॥ यहाँ पर 'ताच्छील्य' रूप अर्थ व्यक्त करने के लिए /–णिनि/प्रत्यय का विधान किया गया है । कोई व्यक्ति लम्बे समय से केवल, उष्ण भोजन करने का ही आदी हो, तभी उसको 'उष्णभोजी' कहा जाता है । परन्तु अन्य व्यक्ति कभी कभी उष्ण भोजन करले और उसका आदी न हो तो वहाँ पर 'उष्णं भुङ्क्ते कदाचित् ।' ऐसा ही तिङन्त प्रयोग होता है । यहाँ पर विशिष्टार्थ के अभाव में, रूपभेद हो जाता है ऐसा पाणिनि ने बताया है ।

(२) *वाचि यमो व्रते । ३–२–४०* सूत्र से कहा है कि – 'वाच्' शब्द उपपद में रहे तब √यम् धातु से खच् प्रत्यय होता है, यदि 'व्रत' रूप अर्थ गम्यमान हो । शास्त्र–विधान के अनुसार कोई ब्राह्मण वाणी का संहरण करके मौन बैठा हो, तो उसको "वाचंयम आस्ते ।" ऐसा कहते हैं ।[18] परन्तु कोई अन्य व्यक्ति अशक्ति या रुग्णावस्था के कारण बोल ही नहीं पाता हो, तो वहाँ पर *कर्मण्यण् । ३–२–१* सूत्र से √यम् धातु को अण् प्रत्यय लगकर वाचं यच्छति इति 'वाग्यामः' शब्द बनता है । यहाँ 'व्रत' रूप अर्थ में /–खच्/ प्रत्यय प्रवृत्त होता है और तद्भिन्न अर्थ में /–अण्/ प्रत्यय प्रवृत्त होता है ।

(३) *गोश्च पुरीषे । ४–३–१४५* सूत्र से, 'गो' शब्द में 'पुरीष' अभिधेय होने पर /–मयट्/ प्रत्यय का विधान किया गया है । जैसे – गोः पुरीषम् इति 'गोमयम्' (गोबर) । यहाँ पर 'गाय का विकार' या 'गाय का अवयव' ऐसा अर्थ अभीष्ट होता है तब मयट् प्रत्यय नहीं लगता है । परन्तु वहाँ पर *गोपयसोर्यत् । ४–३–१६०* सूत्र से /–यत्/ प्रत्यय लग कर गव्यम् (पयः) शब्द बनता है ।

(४) *अपादाने परीप्सायाम् । ३–४–५२* सूत्र कहता है कि – परीप्सा याने त्वरा गम्यमान रहने पर, अपदानकारक वाचक शब्द उपपद में रहते, धातु से णमुल् प्रत्यय होता है । जैसे– (शय्याया उत्थायम् इति) शय्योत्थायं धावति । 'शय्या से उठकर सीधा भागता है ।' जब त्वरा नहीं होती है तो आदमी शय्या से बाहर निकल कर शरीर शुद्धि का कार्य आदि करता है, नये वस्त्र पहनता है और बाद में कहीं बाहर जाता है । तब ऐसी स्थिति में उत् + √स्था धातु से /–ल्यप्/ प्रत्यय होकर 'उत्थाय' रूप बनता है । लेकिन त्वरा गम्यमान होती हो तो उत् + स्था से णमुल् → अम् प्रत्यय लग कर 'उत्थायम्' रूप बनता है ।

इस तरह से पाणिनि ने अपने शब्दनिष्पादक तन्त्र में, विशिष्ट अर्थ में विशिष्ट प्रत्यय का विधान करके अर्थभेद के कारण रूपभेद को जन्माया है । (यहाँ पर भी अर्थनिर्देश करनेवाले अंश सप्तम्यन्त पद में रखे गये हैं ।)

2.3 'वर्णनात्मक प्रकार के व्याकरण' में अर्थ का स्वरूप :

पाणिनि का 'अष्टाध्यायी' व्याकरण एक शब्द निष्पादक तन्त्र के रूप में लिखा गया है और उसमें "वर्णनात्मक प्रकार" का व्याकरण लिखने का/प्रस्तुत करने का भी ख्याल रखा

18. यहाँ पर *वाचंयम पुरंदरौ च । ६–३–६९* सूत्र से मुम् भाव का निपातन होता है ।

गया है ।[19] अतः पाणिनि ने स्थान–स्थान पर भाषायाम् – छन्दसि, प्राचि – उदीचि, संज्ञायाम्, पूजायाम्, क्षेपे, गर्हायाम्, आशिषि, प्रहासे इत्यादि शब्दों का प्रयोग करके पूरे भौगोलिक क्षेत्र, सामाजिक सन्दर्भ एवं भाषाभेद इत्यादि का परिवेश ध्यान में रखते हुए ही संस्कृतभाषा का वर्णन किया है । इस तरह व्यापक रूप से भाषा का वर्णन करते समय उन्होंने अर्थवैशिष्ट्य को ही लक्ष्य में रखा है । वाग्व्यवहार में प्रयुक्त होनेवाली भाषा में से व्याकरणिक अर्थ तो प्राप्त होते ही हैं, लेकिन उन्हीं अर्थों के साथ जो भौगोलिक एवं सामाजिक परिवेश रूप अर्थ अनिवार्य रूप से जुड़े रहते हैं उनकी उपेक्षा कोई भी विचक्षण वैयाकरण नहीं कर सकता । पाणिनि इस तरह के अर्थवैविध्य का परीक्षण एवं निरूपण करनेवाले प्रबुद्ध वैयाकरण हैं ।

2.3.1 अर्थ के रूप में भौगोलिक परिवेश :

पाणिनि के अनेक सूत्रों में 'प्राक्' एवं 'उदक्' शब्दों के द्वारा "पूर्व भाग के प्रदेशों में" एवं "उत्तरभाग के प्रदेशो में" कैसे कैसे शब्दों का प्रयोग होता है, इसकी पूरी गवेषणा की है और भाषाप्रयोग में जो भूगोल एक अर्थ के रूप में प्रतिबिम्बित होता है उसको सूत्रबद्ध किया है. । उदाहरण के लिए – *एङ् प्राचां देशे । १–१–७५, उदीचां वृद्धाद् अगोत्रात् । ४–१–१५७, जनपदे लुप् । ४–२–८१ पुष्करादिभ्यो देशे । ५–२–१३५* इत्यादि ॥

उत्तरी प्रदेशो में 'आम्रगुप्तः' का पुत्र 'आम्रगुप्तायनिः' कहलाता है और पूर्वदिशा के प्रदेशों में उसीको 'आम्रगुप्तिः' कहा जाता है – ऐसा *उदीचां वृद्धाद् अगोत्रात् । ४–१–१५७* सूत्र से निर्दिष्ट किया है ।[20] काशिकाकारने इस सन्दर्भ में एक श्लोक लिखा है :–

19. पाणिनिं का व्याकरण मूलतः आदेशात्मक (Prescriptive) प्रकार का व्याकरण नहीं है। वह तो केवल वर्णनात्मक (Descriptive) प्रकार का ही है । परन्तु कालान्तर में विभिन्न ग्रन्थों के टीकाकारों ने "इदम् अपाणिनीयम्", "इदं पाणिनेर्नानुमतम्"; 'इदम् असाधु' इत्यादि लिख कर पाणिनिसम्मत रूप का दुराग्रह दिखाया । अतः पाणिनि के व्याकरण को बाद में आदेशात्मक प्रकार का व्याकरण माना गयां है । काशिकावृत्ति में प्रत्येक सूत्र का अर्थप्रदर्शन करते समय "भवति, भवतः, या भवन्ति" का प्रयोग मिलता है । लेकिन बाद में भट्टोजि दीक्षितने सिद्धान्तकौमुदी में प्रत्येक सूत्र का अर्थ बताते समय – स्यात् – स्याताम् – स्युः (ऐसा होना चाहिए/किया जाय) का प्रयोग किया है – वह ध्यातव्य है ।

20. (सूत्रार्थः) – वृद्धं यच्छब्दरूपमगोत्रम्, तस्मादपत्ये फिञ् प्रत्ययो भवत्युदीचामाचार्याणां मतेन ४–१–१५७ इत्यत्र काशिकावृत्तिः ॥

प्रागुदञ्चौ विभजते हंसः क्षीरोदके यथा ।
विदूषां शब्दसिद्ध्यर्थं सा नः पातु शरावती ॥ (१–१–७५ इत्यत्र काशिकावृत्तिः)

अर्थात् ''विद्वानों के लिए शब्दसिद्धि करने का जब प्रसङ्ग उठता है तब जिस तरह से हंस नीर–क्षीर का विवेक कर दिखाता है, वैसे ही शरावती नदी भी पूर्व के देशों का और उत्तरी देशों के भाषाभेद को अलग करने दिखाती है । ऐसी शरावती नदी हमारा (वैयाकरणों का) रक्षण करे ।'' इसको स्पष्ट करते हुए हरदत्तने लिखा है कि – शरावती नामक नदी उत्तरपूर्वाभिमुख बहती है । उसके दक्षिण–पूर्व का जो प्रदेश है, उसे 'प्राग्देश' कहते हैं और उत्तरपश्चिम के प्रदेश को 'उदग्देश' कहते हैं ।[21] इस तरह शब्दसिद्ध के प्रसङ्ग में, पाणिनिने जो जो भौगोलिक मर्यादायें अर्थ के रूप में प्रकट होती हैं उनका भी सही सही वर्णन किया है ।

इसी तरह का एक दूसरा उदाहरण देखिए – पाणिनि ने तद्धित प्रत्ययों का विधान करते समय कहा है – ***उदक् च विपाशः । ४–२–७४.*** ''विपाश् नदी के उत्तरी तट पर जो कूप हैं उन्हीं का यदि तद्धित प्रत्यय से नामाभिधान करना हो तो अञ् (ञित्) प्रत्यय लगाया जाता है ।'' दत्तेन निर्वृतः कूपः (दत्तने बनाया हुआ कूप) सः दात्तं (कूपः) । कहा जाता है । यहाँ पर अञ् (ञित्) प्रत्यय लगने से, **ञ्नित्यादिर्नित्यम्** । ६–१–१९७ सूत्र से ञिदन्त एवं निदन्त शब्दों को आद्युदात्त स्वर से बोला जाता है । किन्तु इसका फलितार्थ यह होता है कि सूत्रकार की दृष्टि से विपाश् नदी के दक्षिणी तट पर स्थित कूपों के लिए जब तद्धितान्त शब्द बनाया जाता है, तब कूप को (अञ् प्रत्यय लगता नहीं है;) अण् प्रत्यय ही लगता है । जिससे 'दत्तेन निर्वृतः इति दात्तः (कूपः) ऐसा आद्युदात्त (३–१–३) शब्द बनता है/ बोला जाता है । इसी तरह से, एक नदी के उत्तरी तट पर अमुक शब्द किस स्वर के साथ बोला जाता है, और वही शब्द उसी नदी के दक्षिणी तट पर विभिन्न स्वर से बोला जाता है । पाणिनि ने बड़ी सूक्ष्मेक्षिका से भाषा का जो सर्वेक्षण किया है; उसमें शब्दोच्चारण के स्वरभेद में जो भौगोलिक स्थिति भी एक अर्थ के रूप में ही प्रतिबिम्बित होती है वह हमारे लिए ध्यानास्पद है ।

---

21. शरावती नाम नदी उत्तरपूर्वाभिमुखी, तस्या दक्षिणपूर्वस्यां दिशि व्यवस्थितो देशः प्राग्देशः, उत्तरपरस्याम् उदग्देशः । तौ शरावती विभजते । तथा मर्यादया तयोर्विभागो ज्ञायते ॥ **(काशिका–पदमञ्जरी, पृ. २५९–६० प्रथमो भागः)**

2.3.2 अर्थ के रूप में सामाजिक परिस्थिति :

पाणिनि ने आपने वर्णनात्मक प्रकार के व्याकरण में मनुष्यजीवन को व्यापक रूप से स्थान दिया है। किसी भी भाषाकीय अभिव्यक्ति में मनुष्य का व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन प्रतिबिम्बित होने ही वाला है। जैसे हास–उपहास, स्तुति–निन्दा, शाप–आशीर्वाद, व्यापार–क्रीड़ा, जाति–गोत्र, शिक्षण–धर्म, आश्रम–विवाह, स्त्री–वेषभूषा, खानपान–यान आसन, विशेषसंज्ञा–इत्यादि। भाषाकीय अभिव्यक्ति में (१) स्थूल द्रव्यादि एवं क्रिया रूप रूढि प्राप्त कोशगत अर्थ; (२) और लिङ्ग, वचन, कालादि रूप व्याकरणिक अर्थ से आगे बढकर, (३) उपर्युक्त सामाजिक सन्दर्भ भी एक अर्थ के रूप में स्थान प्राप्त करते हैं। इनमें से कतिपय के उदाहरण हम यहाँ देखेंगे –

(१) *खट्वा क्षेपे। २–१–२६* सूत्र से कहा गया है कि – खट्वाप्रकृतिक द्वितीयान्त शब्द का क्तान्तप्रकृतिक सुबन्त के साथ समास होता है, यदि निन्दा का भाव बताना हो तो॥ यथा – खट्वारूढो जाल्मः। (यह नित्यसमास होता है।) लेकिन जब वास्तव कथन करना हो, तो "अयं पुरुषः खट्वाम् आरूढः।" ऐसा विगृहीत वाक्य ही प्रयुक्त किया जाता है। यहाँ पर पाणिनि ने **खट्वा क्षेपे। २–१–२६** सूत्र में "क्षेपे" जैसा सप्तम्यन्त पद रखकर 'निन्दा' रूप अर्थ, जो समाजजीवन में कभी कभी व्यक्त किया जाता है उसका प्रदर्शन किया है।

इसी तरह से, **सुः पूजायाम्। १–४–९४** सूत्र से कहा है कि – 'पूजा' अर्थ व्यक्त करने वाले 'सु' शब्द की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। उदाहरण – सु सिक्तं भवता। सु स्तुतं भवता। "आपने तो बहु अच्छी तरह से सिंचन किया है, अच्छी तरह से स्तुति की है।" परन्तु यदि आक्षेप करना है तो 'सु' शब्द की उपसर्ग संज्ञा होती है। जिसके परिणाम स्वरूप षत्व विधि होती है। यथा सुषिक्तं किं तवात्र ?! "क्या यह तूने अच्छी तरह से सिंचन किया लगता है ?" याने तूने अच्छी तरह से सिंचन नहीं किया है॥ पाणिनि अपने अनेक सूत्रों में आक्रोशे, शपथे, क्षेपे, गर्हायाम्, पूजायाम्, प्रशंसायाम् जैसे सप्तम्यन्त पद रखकर मनुष्यों के मन में रहे विभिन्न भावों को भाषाकीय स्तर पर अर्थ के रूप में किस तरह से प्रकट किये जाते है उसका विशद एवं विस्तृत वर्णन करते है। प्रोफे. सरोजा भाटे (पूर्णे)ने भी अपने Vyañjanā as reflected in the formal structure of Language – वाले लेख में लिखा है कि – In his Aṣṭadhyāyī, he showed in at least two hundred rules that a number of emotive and attitudinal meanings were relevant to the form of language.

His treatment of a large number of word formations that are linked with the **dhavani** indicates that the emotive and attitudinal meanings can be formalized at least to a certain extent.[22]

२.३.२ (१) संस्कृत भाषा में 'भार्या' के लिए अनेक पर्यायवाची शब्द प्रचलित है। जैसे कि – कान्ता, रमा, जाया, पत्नी, कलत्रम्, दाराः, गृहिणी, कुटुम्बिनी, श्रीमती इत्यादि। किन्तु व्यवहार काल में किस सन्दर्भ में कौन सा शब्द चूना जाय ? यह प्रश्न रहता है। सांस्कृतिक परिवेश में क्या आप वैवाहिक सम्बन्ध बताना चाहते है, या धर्माचरणविधि का सन्दर्भ बताना चाहते है ? ऐसे अर्थों का प्रदर्शन करते हुए पाणिनिने लिखा है :– *पत्युर्नो यज्ञसंयोगे । ४–१–३३* "यज्ञ के साथ सम्बन्ध रखनेवाली भार्या" रूप अर्थ प्रकट करने के लिए 'पति' शब्द के अन्तिम इ कार के स्थान में 'न्' कारादेश होता है, (= पत्न्) बाद में *ऋन्नेभ्यो ङीप् । ४–१–५* सूत्र से ङीप् प्रत्यय लगकर 'पत्नी' शब्द सिद्ध होता है। इससे स्पष्ट होता है कि 'सहधर्मचारिणी' रूप अर्थ का प्रकटीकरण 'पत्नी' शब्द से ही होता है। यहाँ (४–१–३३) पर पाणिनिने 'यज्ञसंयोगे' ऐसे सप्तम्यन्त पद से एक सांस्कृतिक अर्थ को उजागर किया है।

इस तरह से पाणिनि ने *नित्यं हस्ते पाणावुपयमने । १–४–७७* सूत्र से कहा है कि 'उपयमन' (= दारकर्म) अर्थ में 'हस्ते' एवं 'पाणौ' ऐसे दो शब्द, कृञ् धातु (साधित रूप) पर में रहते, गतिसंज्ञक होते है। यथा पाणौकृत्य। हस्तेकृत्य। रामः सीतां हस्तेकृत्य मिथिलातः अयोध्यां गच्छति। जिसका अर्थ 'राम सीता के साथ विवाह सम्बन्ध से जुड़कर, सीता को अपनी पत्नी बना कर मिथिला से अयोध्या जाते है। लेकिन जब 'उपयमन' रूप अर्थ व्यक्त करना अभीष्ट नहीं है, यथा – 'देवदत्तः कार्षापणं हस्ते कृत्वा गतः।' तब 'हस्ते' शब्द की गतिसंज्ञा नहीं होती है, और परिणाम स्वरूप 'कृत्वा' के स्थान पर, 'कृत्य' ऐसा ल्यबन्त रूप नहीं होता है॥ यहाँ पर 'उपयमने' ऐसे सप्तम्यन्त पद से 'दारकर्म' रूप अर्थ का निर्देश किया गया है।

---

22. द्रष्टव्यः PAṆINIYAN STUDIES (Prof. S. D. Joshi Felicitation Volume); Ed. by M. M. Deshpande and Saroja Bhate, Pub. Center for South & Southest Asian Studies, University of Michigan, USA, (No. 37), 1991 (pp. 55–64).

2.3.2 (2) सामाजिक जीवन में तो व्यापार, शिक्षण, क्रीड़ा, विशिष्ट संज्ञा इत्यादि का भी समावेश होता है । भाषा में ऐसे अनेक शब्द होते है, जिसमें ऐसा सामाजिक जीवन प्रतिबिम्बित होता है और किसी भी वैयाकरण के लिए यह आवश्यक है कि शब्द की वर्णानुपूर्वी से हि ध्वनित होनेवाले ऐसे समाजजीवन को वह उद्घाटित करे । उदाहरण रूप से –

(१) *क्रय्यस्तदर्थे । ६–१–८२* सूत्र के 'क्रय्यम्' शब्द बनता है, जिसका अर्थ ''क्रेतारः क्रीणीयुरिति बुद्धया आपणे प्रसारितं क्रय्यम् ।'' होता है । जो चीज वस्तुएँ बेचने के लिए तैयार रखी है उसीको 'क्रय्य' कहते है । परन्तु भविष्य में बेचने योग्य (गोदाम में रखी हुई जो) होती है उसीको 'क्रेयम्' कहते है ।

(२) *संज्ञायाम् । ३–३–१०९* सूत्र के द्वारा किसी भी धातु से ण्वुल् प्रत्यय होता है, यदि किसी की 'संज्ञा' बतानी हो तो । यथा – उद्दालकपुष्पभञ्जिका । इसी के साथ सम्बद्ध दूसरा सूत्र *'नित्यं क्रीडाजीविकयोः । २–२–१७* है । क्रीडा एवं आजीविका रूप अर्थ व्यक्त करने के लिए नित्य षष्ठी तत्पुरुष समास होता हैः उद्दालकस्य पुष्पाणि, भज्यन्ते यस्यां क्रीडायां, (सा क्रीडा) ''उद्दालकपुष्पभञ्जिका'' यह एक क्रीड़ा की संज्ञा है । यहाँ पर ण्वुल् प्रत्यय एवं नित्य समास से यह ''क्रीडा की संज्ञा'' रूप अर्थ प्रकट होता है । संज्ञा से भिन्न अर्थ में केवल विगृहीत वाक्य ही बनता है । ''उद्दालकस्य पुष्पाणां भञ्जिका'' (कापि कन्या) ।

(३) शैक्षणिक सन्दर्भों के लिए भी पाणिनिने अनेक सूत्रों का प्रणयन किया है । यथा – *वर्णाद् ब्रह्मचारिणि ५–२–१३४* सूत्र कहता है कि 'ब्रह्मचारी' (विद्यार्थी) अर्थ में 'वर्ण' शब्द को इनि प्रत्यय लगता है । यथा – वर्ण + इनि = वर्णी । जो विद्याग्रहण के लिए नियमाचरण रूप ब्रह्म का सेवन नहीं करता है, केवल जन्म से उच्च वर्ण में उत्पन्न हुआ हैं (यथा – ब्राह्मणादि तीन वर्णवाला व्यक्ति) वह – 'वर्णवान्' कहा जाता है । यहाँ पर /–मतुप्/ प्रत्यय ही होता है ।

इसी तरह से *चरणे ब्रह्मचारिणि । ६–३–८६* सूत्र कहता है कि – वेद की एक ही शाखा या चरण का अध्ययन करनेवाले छात्र, परस्पर में 'सब्रह्मचारी' कहलाते है । यहाँ पर 'ब्रह्मचारिन्' शब्द उत्तरपद में रहते हुए 'समान' शब्द को 'स' आदेश होता है, यदि 'चरण' रूप अर्थ गम्यमान रहे तो ।[23] *आख्यातोपयोगे । १–४–२९* सूत्र भी इसी प्रकार का है ।

23. चरणे गम्यमाने ब्रह्मचारिण्युत्तरपदे समानस्य स इत्ययमादेशो भवति । समानो ब्रह्मचारी सब्रह्मचारी । ब्रह्म वेदः, तदध्ययनार्थं यद् व्रतं तदपि ब्रह्म, तच्चरति इति ब्रह्मचारी, समानस्तस्यैव ब्रह्मणः समानत्वादित्ययमर्थो भवति – समाने ब्रह्मणि व्रतचारी सब्रह्मचारीति । ६–३–८६ इत्यत्र काशिकावृत्तिः ॥

2.3.3 विशिष्ट सम्भाषण सन्दर्भ के रूप में अर्थ का निर्देश :

पाणिनि ने अपने 'वर्णनात्मक प्रकार' के व्याकरण में, पूरे सांस्कृतिक एवं सामाजिक सन्दर्भों की, एक अर्थ के रूप में जो भाषाकीय स्तर पर अभिव्यक्ति मिलती है उसका बारिकी से वर्णन किया है । उसी तरह मनुष्य के दैनंदिन व्यवहार में जो बातचीत होती है और उसमें जो 'संभाषण सन्दर्भ' होते है उन को भी एक अर्थ के रूप में अभिव्यक्त होते हुए देखे है । अतः ऐसे अर्थों को भी सूत्रबद्ध करने की आवश्यकता थी ।

उदाहरण – (१) पाणिनि ने वाक्यसंघटना का निरूपण करते हुए लिखा है कि – 'तद्', 'एतद्', 'इदम्', 'यद्' इत्यादि सर्वनाम से वाच्य संसार की कोई भी जड़–चेतन व्यक्ति, 'युष्मद्' वाच्य श्रोता एवं 'अस्मद्' वाच्य वक्ता के लिए क्रमशः प्रथम–पुरुष, मध्यम–पुरुष एवं उत्तम–पुरुष संज्ञक तिङ् प्रत्ययों से बने हुए क्रियापदों का प्रयोग होता है । किन्तु व्यवहार काल में संभाषण करते हुए जब हास–परिहास करने का प्रसङ्ग हो तब, पाणिनि *'प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च' । १–४–१०६* सूत्र से कहते है कि √ मन् धातु है उपपद में जिसके, ऐसे अन्य क्रियावाचक धातु को मध्यम पुरुष संज्ञक प्रत्यय लगते है; और √ मन् धातु को उत्तम पुरुष संज्ञक हो ऐसे ''इङ्–वहि–महिङ्'' तीन प्रत्ययों मे से जो एकवचन का प्रत्यय होता है, वह लगता है । यथा – त्वं (युवां अथवा यूयम्) मन्ये, अहं रथेन यास्यसि । ''तूंने तो माना होगा कि मैं रथ में बैठकर प्रयाण करूँगा, (किन्तु वह रथ तो भग्न हो गया है !)'' यहाँ पर उद्देश्य एवं क्रियापद की सङ्गति (Agreement) नहीं होती है । जैसे कि – 'अहम्' के साथ 'यास्यसि' क्रियापद की और 'त्वं' के साथ 'मन्ये' की विसङ्गतिवाली वाक्यरचना होती है – ऐसा पाणिनि ने निर्देश किया है । सामान्य रूप से सभी वाक्यरचनाओं में उद्देश्य एवं तदनुरूप क्रियापद में 'पुरुष' की सङ्गति अर्थात् सामानाधिकरण्य (Agreement) होता है ऐसा पाणिनि ने *युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः । १–४–१०३* इत्यादि सूत्रों से कहा है । लेकिन परिहास के सन्दर्भ में कौन सी विपरीत सङ्गति होती है उसका भी निरूपण किया है । अन्य शब्दों में कहे तो – 'परिहास' रूप संभाषण सन्दर्भ भी एक वाक्यार्थ के रूप में उपर्युक्त विसङ्गति से ही प्रकट होता है – ऐसा पाणिनि ने उल्लिखित किया है ।

उदाहरण – (२) *हेति क्षियायाम् । ८–१–६०* सूत्र से पाणिनि ने कहा है कि 'ह' अव्यय के साथ प्रयुक्त जो भी पहली तिङ् विभक्ति (= पहला क्रियापद) होती है, उसको अनुदात्त स्वर नहीं होता है, यदि ''क्षिया'' अर्थात् ''धर्माचार का भङ्ग'' रूप अर्थ व्यक्त

करना हो तो । यथा – स्वयं ह रथेन याति ३, उपाध्यायं पदातिं गमयति । कोई छात्र स्वयं मोटरयान से जाता है और अपने गुरु को पैदल भेजता है, तो ऐसे धर्मव्यतिक्रम को, आचारभेद को 'क्षिया' कहते है । ऐसी स्थिति को उद्घाटित करने के लिए जो पहली तिङ्विभक्ति याति ३ है वह सर्वानुदात्त निघात नहीं होती है; और साथ में *क्षियाशीःप्रैषेषु तिङ्काङ्क्षम् । (८–२–१०४)* से उस 'याति' तिङन्त पद में प्लुत भी होता है । यहाँ पर भी पाणिनि ने 'क्षियायाम्' जैसा सप्तम्यन्त पद रखकर, एक विशिष्ट संभाषण सन्दर्भ रूप अर्थ का निरूपण किया है ।

उदाहरण – (३) सामान्य रूप से लोट् लकार विध्यादि अर्थों का विधान करता है । परन्तु पाणिनि *तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम् । ७–१–३५* सूत्र से "आशीर्वाद अर्थ में /–तु/ एवं /–हि/ के स्थान में (विकल्प से) तातङ् आदेश होता है" ऐसा कहते है । यथा – "जीवतु भवान् । जीव त्वम् ।" के स्थान में "जीवतात् भवान् । जीवतात् त्वम् ।" ऐसा प्रयोग (भी) होता है । आशीर्वाद से भिन्न जब केवल आज्ञा का अर्थ होगा, वहाँ 'ग्रामं गच्छतु भवान् ।' ही होगा, यहाँ 'गच्छतात्' कदापि नहीं होगा । इस सूत्र में 'आशिषि' ऐसा सप्तम्यन्त पद है । संभाषण सन्दर्भ में यदि आशिष् का भाव प्रकट करना अभीष्ट होता है, तब /–तातङ्/ प्रत्यय ही कामयाब होता है – ऐसा पाणिनि ने उल्लिखित किया है ।

2.3.4 पुराकथाशास्त्रीय (माइथोलोजीकल) एवं दार्शनिक अर्थों का प्रदर्शन :

पाणिनि ने सामाजिक, सांस्कृतिक, संभाषणसन्दर्भादि रूप विभिन्न अर्थों का प्रदर्शन करने के साथ साथ कतिपय स्थानों पर एक ही शब्द के साथ जुड़े हुए पुरा कथाशास्त्रीय एवं दार्शनिक अर्थों का भी प्रदर्शन किया है । उदाहरण रूप से – *इन्द्रियम् इन्द्रलिङ्गम् – इन्द्रदृष्टम् – इन्द्रसृष्टम् – इन्द्रजुष्टम् – इन्द्रदत्तम् इति वा । ५–२–९३* इस सूत्र से कहा गया है कि "इन्द्रियम्" ऐसा अन्तोदात्त स्वरवाला शब्द निपातन से सिद्ध होता है; और वह शब्द 'इन्द्रस्य लिङ्गम्', 'इन्द्रेण दृष्टम्', 'इन्द्रेण सृष्टम्', 'इन्द्रेण जुष्टम्', 'इन्द्रेण दत्तम्' इत्यादि जैसे अर्थो में प्रयुक्त होता है । वृत्तिकार यहाँ कहते है कि इतिकरणः प्रकारार्थः । सति सम्भवे व्युत्पत्तिरन्यथापि कर्तव्या । अर्थात् 'इन्द्रेण दुर्जयम्' [आत्मा से जो जितना मुश्कील है, वह "इन्द्रिय" है ।] जैसे अनुल्लिखित अर्थ में भी 'इन्द्रिय' शब्द का प्रयोग देखा जाता है ।

अध्यात्मशास्त्र में शरीर, इन्द्रिय, आत्मा इत्यादि विषयों की चर्चा प्राप्त होती है । वेद की मन्त्रसंहिताओं में इन्द्र देवता प्रथमपंक्ति के देवता तो है ही, परन्तु कुत्रचित् उसको परमेश्वर का, परमात्मा का वाचक भी वर्णित किया गया है । इन्द्र के पुराकथाशास्त्रीय अध्ययन करने

से मालुम होता है कि इन्द्र मूल में युद्ध के देवता थे, उसके बाद वह वृष्टि के देवता बनाये गये, और अन्ततोगत्वा वह परमात्मा स्वरूप से भी वर्णित किये गये हैं । अतः शरीर में स्थित चैतन्य स्वरूप आत्मा को भी 'इन्द्र' कहा गया है । दूसरी और 'लिङ्ग' शब्द का अर्थ होता है:— लीनम् अर्थम् गमयति इति लिङ्गम् । लीन अर्थ को जो बताता है वह 'लिङ्ग' है । अर्थात् शरीर में छीपे हुए आत्मा का अस्तित्व इन्द्रिय से अनुमित होता है । अतः 'इन्द्रियम्' शब्द का प्रथम अर्थ होता है:— इन्द्रस्य लिङ्गम् । काशिकाकार कहते है कि — "**इन्द्रः आत्मा । स चक्षुरादिना करणेन अनुमीयते; न अकर्तृकं करणम् अस्ति ।**"[24] चक्षु, श्रोत्रादि 'करण' (= साधन) कहे जाते है, और कर्ता के बिना करण का होना असम्भव है । करण सें (इन्द्रिय से) कर्ता का (आत्मा का) अनुमान होता है । अतः जो इन्द्र की (अर्थात् आत्माकी) लिङ्ग होती है, वह 'इन्द्रिय' कहलाती है । यहाँ पर 'इन्द्र' शब्द को, 'इन्द्रस्य लिङ्गम्' इस अर्थ को प्रकट करने के लिए, /—घच्/प्रत्यय जुड़ता है, जिस से 'इन्द्रियम्' शब्द सिद्ध हो सकता है । इन्द्र + घच् → इय = 'इन्द्रियम्' ।

'निरुक्त' के दशम अध्याय में 'इन्द्र' शब्द के जो विभिन्न निर्वचन दिये गये है, वह इन्द्र को प्राधान्येन वृष्टि के देवता के रूप में ही वर्णित करते है ।[25] परन्तु पाणिनि पूर्वोक्त सूत्र (५—२—९३) में उत्तरवर्ती काल में विकसित दार्शनिक अर्थवाले 'इन्द्र' शब्द को लेकर, घच् प्रत्यय का विधान करते है, और 'इन्द्रिय' शब्द की सिद्धि बताते है । पाणिनि ने इन्द्र का वृष्टि देवतारूप व्यक्तित्व, जो कि वेदोक्त माइथोलोजीकल व्यक्तित्व है, उसका निर्देश पूर्वोक्त सूत्र में नहीं किया है । परन्तु तद्उत्तरवर्ती काल का दार्शनिक स्वरूप ध्यान में लेते हुए इन्द्रलिङ्गम्, इन्द्रसृष्टम् इत्यादि कहा है ।

यद्यपि इस सन्दर्भ में, एक विशेष स्पष्टता यह भी करनी होगी कि — 'इन्द्र' शब्द का दार्शनिक स्वरूप उल्लिखित करने वाले पाणिनि ने इन्द्र के वेदोक्त एवं पौराणिक पुराकथाशास्त्रीय व्यक्तित्वों को भी एक अन्य सूत्र में निर्दिष्ट किये है :— *ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप् । ३—२—८७* सूत्र से कहा है कि — 'ब्रह्म', 'भ्रूण' एवं 'वृत्र' शब्द उपपद में रहे तब √हन्

---

24. द्रष्टव्याः **काशिकावृत्तिः** (चतुर्थो भागः), पृ. २०१.

25. इन्द्र इरां दृणाति इति, वेरां ददातीति..... (**निरुक्तम्—१०**) अत्र दुर्गः — इन्द्रः कस्मात् । इरां दृणाति इति वा । इराम् अन्नं व्रीह्यादि, दृणाति विदारयति, ...वर्षक्लेदितमङ्कुरं बीजं भिनत्ति, तमिन्द्रकारितम्, सोऽयम् इरादारः सन् इन्द्रः ॥ — **निरुक्तम् (चतुर्थो भागः)** गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, कलकत्ता, 1953, p. 963.

धातु को क्विप् प्रत्यय 'भूतंकाल' अर्थ में लगाया जाता है। जिसके परिणाम स्वरूप "ब्रह्महा – भ्रूणहा – वृत्रहा" जैसे शब्द सिद्ध होते है। इन्द्रने 'वृत्र' को मारा था। वह 'वृत्र' निरुक्त–परम्परा के अनुसार 'मेघ' है, परन्तु ऐतिहासिकों की दृष्टि से वह त्वष्ट्य का पुत्र असुर था। पाणिनि ने ३–२–८७ सूत्र को, *भूते । ३–२–८४* के अधिकार के नीचे रखा कर 'वृत्र' का ऐतिहासिक होना स्वीकारा है।

एवमेव 'भ्रूणहा' शब्द से भी सूचित होता है कि दिति के उदर में स्थित गर्भ का विनाश करने वाला इन्द्र ही यहाँ उद्दिष्ट हो सकता है; और उसी गर्भ के उनपचास टुकड़ों में से उत्पन्न हुए मरुद्गण बाद में इन्द्र के सहायक बन जाते हैं। इस तरह पाणिनि ने कुत्रचित् शब्दों के पुराकथाशास्त्रीय एवं दार्शनिक अर्थ भी ध्यान में लिये हैं।

3.0 'अर्थ' का कार्य :

पाणिनि ने वाक्यनिष्पत्ति को अन्तिम लक्ष्य बनाकर, वाक्यान्तर्गत सुबन्त एवं तिङन्तादि पदों की सिद्धि बताई है। इस प्रकार की पदसिद्धि के आरम्भ बिन्दु पर ही, (१) (व्याकरणिक प्रकार के) 'अर्थ' को [in–put के रूप में] प्रदर्शित किया गया है। (२) निश्चित (रूढ या कोशगत) अर्थ की वाचिका 'प्रकृति' एवं निश्चित लिङ्ग–वचनादि रूप व्याकरणिक अर्थ को प्रकट करनेवाले 'प्रत्यय' को पहले स्थापित किया जाता है। उसके बाद प्रकृति + प्रत्यय के संयोजन की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। (३) तृतीय सोपान पर, पाणिनि ने स्थान्यादेश–भाव की युक्ति से मुख्य रूपघटक (रूपिम) को आवश्यकतानुसार परिवर्तित करके, उसके स्थान पर अन्य उपरूपघटक (उपरूपित) को लाया जाता है। (उदाहरण स्वरूप – *टाङसिङसाम् इनात्स्याः । ७–१–१२, आङो नाऽस्त्रियाम् । ७–३–१२०* (४) चतुर्थ सोपान पर, आवश्यकतानुसार निश्चित आगमी को 'आगम' लगाया जाता है। अथवा निर्दिष्ट कार्यिन् को कोई कार्य कहा जाता है। (५) पञ्चम सोपान पर, ध्वनिशास्त्रानुसार दो ध्वनि के सान्निध्य को मध्ये नजर रखते हुए ध्वनिविकार की सूचना दी जाती है। (६) अन्ततोगत्वा रूपसाधनिका पूर्ण होती है। इस प्रकार संयोजनात्मक प्रक्रिया का पुरस्कार करते हुए 'अष्ट्यध्यायी' व्याकरण में जो शब्दनिष्पादक तन्त्र (Word–producing machine) आकारित किया गया है, उसमें 'अर्थ' को आरम्भबिन्दु पर ही रखा गया है – यह एक निर्विवाद बात है; परन्तु उसके साथ साथ यह भी कहना आवश्यक है कि उपर्युक्त रूपसिद्धि की प्रक्रिया के दौरान वही 'अर्थ' के द्वारा कौन कौन से कार्य भी सम्पन्न किये जाते हैं।

3.1 अर्थ के द्वारा संज्ञाविधान रूप कार्य :

अष्टाध्यायी के कारकपाद (१—४—२३ से ५४) में विभिन्न कर्तृकर्मादि कारक संज्ञाओं का विधान किया गया है। इस प्रसङ्ग में,पाणिनि ने पहले निश्चित अर्थों को उद्दिष्ट करके, प्रत्येक को निश्चित कारक विशेष संज्ञा का विधान किया है। यथा — *साधकतमं करणम् । १—४—४२, कर्तुरीप्सिततमं कर्म । १—४—४९* इत्यादि । यहाँ पर ''क्रियासिद्धि में को साधकतम, अर्थात् प्रकृष्ट उपकारक कारक हो'' उसे 'करण' कारक कहा जाता है। एवं ''कर्ता को क्रिया के द्वारा प्राप्त करने को जो इष्टतम पदार्थ = कारक हो'' उसे 'कर्म'कारक कहा जाता है। यहाँ पर **'साधकतमं'** एवं **''कर्तुरीप्सिततमं''** यह अर्थ निरूपण है; उसी के आधार पर ही करण, कर्मादि कारकविशेष संज्ञा का विधान किया गया है।

तदनन्तरम्, पाणिनि ने विभक्तिपाद (२—३—१ से २—३—७३) के सूत्रों के द्वारा द्वितीयादि विभक्तियों का विधान किया है। इस प्रसङ्ग में, पाणिनिने कारकसंज्ञा को निमित्त (या माध्यम) बना के विभक्तिविधान किया है। यथा प्रथमाध्याय में *कर्तुरीप्सिततमं कर्म । १—४—४९* सूत्र से कारकसंज्ञा का विधान करने के बाद, *कर्मणि द्वितीया । २—३—२* सूत्र से द्वितीया विभक्ति का विधान किया है।

3.2 अर्थ के द्वारा विभक्तिविधान रूप कार्य :

अष्टाध्यायी में कुत्रचित् ऐसा भी देखा जाता है कि पाणिनि ने बिना कोई कारकसंज्ञा को माध्यम बनाये, कुछ अर्थों में सीधा ही विभक्तिविधान कर दिया है। यथा — *अपवर्गे तृतीया । २—३—६,* तथा *कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे (द्वितीया) । २—३—५* इत्यादि सूत्र कहता है कि — अपवर्ग यानें फलप्राप्ति हो गई है ऐसा अर्थ व्यक्त करना हो तो, काल वाचक एवं मार्गवाचक शब्द को तृतीया विभक्ति में रखा जाता है। यथा — द्वादशवर्षैः व्याकरणम् अधीतम्। (द्वादश वर्षो से व्याकरण पढ़ा है, और ज्ञान हो गया है) परन्तु जब ''(केवल) क्रिया का अत्यन्तसंयोग (ही) रहा है'' (परन्तु फलप्राप्ति नहीं हुई है !) ऐसा अभिव्यक्त करना हो तो कालवाचक एवं मार्गवाचक शब्द को द्वितीया विभक्ति होती है। यथा — द्वादशवर्षाणि व्याकरणम् अधीतम्। (द्वादश वर्ष पर्यन्त सातत्यपूर्वक व्याकरण पढ़ा है) इसी तरह से — 'देवदत्तः वेदं मासम् अधीते ।' में क्रिया का अत्यन्तसंयोग होने पर कालवाचक शब्द को द्वितीया लगी है। परन्तु यहाँ पर पाणिनि ने कालवाचक या मार्गवाचक शब्द की पहले कर्मकारक संज्ञा उद्घोषित नहीं की है। जिसके परिणाम स्वरूप जब पूर्वोक्त वाक्य का कर्मणिवाच्य में

परिवर्तन करना होगा तब द्वितीयान्त 'मासम्' पद का प्रथमा विभक्ति में परिवर्तन नहीं होगा। (केवल मुख्य कर्मकारक वाच्य 'वेदम्' पदमें परिवर्तन होकर, 'देवदत्तेन वेदः मासम् अधीयते'। ऐसा ही होगा।)

3.3 रूपसाधनिका में ध्वनिपरिवर्तन करने के लिए व्याकरणिक अर्थों का विनियोग :

रूपसाधनिका की प्रक्रिया के दौरान प्रकृति + प्रत्यय का जो क्रमिक संयोजन वर्णित किया गया है, उसके तृतीय या पञ्चम सोपान पर लिङ्ग वचनादि रूप व्याकरणिक अर्थों को उल्लिखित करके कई जगह पर ध्वनिपरिवर्तन उद्घोषित किया गया है। यथा – (१) *तस्माच्छसो नः पुंसि । ६–१–१०३* राम + शस् – राम + अस्, पूर्वसवर्ण दीर्घ → रामास् → अब 'राम' शब्द पुंलिङ्ग में है इसलिए शस् के 'स्' कार को 'न्' कार होता है – रामान्।

(२) *आङो नाऽस्त्रियाम् । ७–३–२०* सूत्र से 'हरि + टा इस अवस्था में, घि संज्ञक 'हरि' शब्द के पीछे आये हुए /–टा/ प्रत्यय के स्थान में /–ना/ आदेश होता है, तब हरि + ना – हरिणा। रूप सिद्ध हो जाता है।

(३) इसी तरह से *ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य । १–२–४७* से 'श्रीपा' को 'श्रीप' ऐसा ह्रस्वादेश होता है; जिसमें नपुंसकलिङ्ग रूप व्याकरणिक अर्थ को ही ध्यान में लिया गया है। (श्रियं पाति यद् आयुधम् तद् 'श्रीपा' – श्रीपम्।)

(४) यहाँ पर *त्वमावेकवचने । ७–२–९७* एवं *त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ । ७–२–९९* इत्यादि अन्यान्य सूत्र की और भी ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है।

3.4 अर्थभेद से प्रेरित रूपभेद की प्रवृत्ति :

पाणिनि ने 'अर्थ' के द्वारा जो विभिन्न कार्य लिए है उनमें से एक कार्य ऐसा भी है कि – अर्थ को पुरस्कृत करके दो प्रकार के रूप को सिद्ध किया है। सामान्य रूप से तो दो वैकल्पिक रूप समान अर्थ में ही प्रयुक्त होते है (यथा – *वोतो गुणवचनात् । ४–१–४४* मृदुः – मृद्वी); परन्तु भाषा में कतिपय स्थान ऐसे भी है कि जहाँ अर्थभेद होने के कारण ही रूपभेद उत्पन्न होता है। यथा – *पुष्करादिभ्यो देशे । ५–२–१३५* पुष्करादि–गण के शब्दों को /–इनि/ प्रत्यय लगता है, जब उस इनि प्रत्ययान्त शब्द से 'देश' रूप अर्थ अभिधेय रहे तब। यथा – पुष्करिणी (नाम का कोई देश)। किन्तु जब देश वाच्य न हो तब मतुप् प्रत्यय ही प्रवृत्त होगा। यथा – पुष्करवान् हस्ती। जिस हाथी की शूण्डा में कमल है, वह 'पुष्करवान्' कहा जायेगा।

(२) *नखमुखात् संज्ञायाम् । ४–१–५८* 'नख' – एवं – 'मुख' शब्द को, स्त्रीलिङ्ग के विषय में ङीष् प्रत्यय नहीं लगता है, यदि 'संज्ञा' रूप अर्थ विवक्षित हो । यथा – शूर्पणखा । कालमुखा ॥ जहाँ पर वास्तव कथन की इच्छा होगी, वहाँ ङीष् प्रत्यय लगेगा । यथा – ताम्रनखी कन्या । चन्द्रमुखी पत्नी ।

4.0 पाणिनि अर्थ का 'विधान' करते है कि 'निर्देश' ? :

उपर्युक्त चर्चा से अब यह ज्ञात हो गया है कि पाणिनि ने **'अष्टाध्यायी'** के अनेक सूत्रों में पुंसि, स्त्रियाम्, एकवचने, सम्बुद्धौ, वर्तमाने, कर्तरि–कर्मणि, ताच्छील्ये, प्रशंसायाम्, क्षेपे–गर्हायाम्, पूजायाम्, संज्ञायाम्, देशे, गोत्रे, क्रियासमभिहारे, प्रहासे, प्रत्यभिवादे इत्यादि वैषयिक सप्तम्यन्त पदों से अनेक प्रकार के (जैसे कि – व्याकरणिक अर्थ, भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृति, पुराकथाशास्त्रीय एवं संभाषण सन्दर्भादि रूप विभिन्न प्रकार के) अर्थों का समुल्लेख किया है । इस तरह से उल्लिखित अर्थों को देखकर किसी को प्रश्न हो सकता है कि – इस शास्त्र में पाणिनि क्या अर्थों का अपूर्व विधान करते है कि अर्थों का केवल निर्देश ही करते है । भाष्यकार पतञ्जलिने भी *समर्थः पदविधिः । २–१–१* सूत्र के भाष्य में यह प्रश्न उठाया है कि – **किं स्वाभाविकं शब्दैरर्थानाम् अभिधानम्, आहोस्विद् वाचनिकम् ।** ''शब्दों से जो अर्थों का अभिधान होता है, वह क्या स्वाभाविक ही है कि वाचनिक है ? ('वाचनिक' अर्थात् पाणिनि के वचन से (= सूत्र से) आदिष्ट होने के कारण प्राप्त होनेवाला) । कहने का तात्पर्य ऐसा है कि – पाणिनि ने **अनेकमन्यपदार्थे, चार्थे द्वन्द्वः, अपत्ये, रक्ते, निर्वृते** – जैसे पदों से क्या अर्थों का अपूर्वविधान किया है, या वह केवल अर्थनिर्देश ही है, ऐसा माना जाय ?

4.1 अर्थों का केवल 'निर्देश' किया गया है । :

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए पतञ्जलिने कहा है कि – पाणिनि ने अर्थों का अपूर्वविधान नहीं किया है । अर्थों का अभिधान तो स्वाभाविक ही होता है । *चार्थे द्वन्द्वः । २–२–२९* इत्यादि सूत्रों से अर्थों का आदेश (अपूर्वविधान) किया गया है ऐसा जो दिखाई दे रहा है वह तो केवल निमित्तभूत है; निर्देश मात्र है । व्यवहार दशा में जब कोई कहता है कि – कूपे हस्तदक्षिणः पन्थाः । ''कूप के दक्षिण भाग में रास्ता पड़ता है ।'' तो वहाँ पर कोई अपूर्व (= नये) मार्ग का निर्माण नहीं किया जाता है । रास्ता तो पहले से ही, वहाँ था ही । उसी तरह से **'चार्थे द्वन्द्वः ।'** इत्यादि सूत्रों से केवल इतना ही कहा जाता है कि 'च' अव्यय के इतरेतरादि अर्थों में जो समास होता है, वह द्वन्द्व समास कहा जाता है । यहाँ

पर पाणिनि के द्वारा " 'च' अव्यय के अर्थों में द्वन्द्व–समास किया जाय" – ऐसा कोई अर्थ का आदेश (= अपूर्वविधान) नहीं किया जा रहा है ।[26] संक्षेप में कहे तो पाणिनि अर्थों का आदेश नहीं करते है, परन्तु केवल निर्देश ही करते है ।

4.2 अर्थों का 'आदेश' करना असम्भव है :

इस प्रसङ्ग में पतञ्जलिने एक चर्चा यह भी की है कि – व्याकरणतन्त्र में अर्थों का आदेश (अपूर्वविधान) क्यों नहीं किया जाता है ? पतञ्जलि कहते है कि लाघव–सिद्धि के लिए अर्थों का आदेश नहीं किया जाता । जैसा कि – एक शब्द का (अपूर्व = नया) अर्थ बताने के लिए जो दूसरे शब्द का प्रयोग किया जायेगा, तो बाद में वही दूसरे शब्द का क्या अर्थ होगा ? वह बताने के लिए तीसरे शब्द का प्रयोग किया जायेगा ! तीसरे का अर्थ बताने के लिए चौथे शब्द का प्रयोग करना होगा । इस तरह से तो एक बड़ी अनवस्था का निर्माण होगा ! किसी भी शास्त्र में ऐसी अनवस्था सह्य नहीं होती है ।

5.0 उपसंहार :

पाणिनीय व्याकरणतन्त्र में 'अर्थ' का स्थान, स्वरूप एवं कार्य विषयक इस विस्तृत चर्चा में हमने चार बिन्दुओं पर विचारणा करके जो निष्कर्ष निकाले है वह निम्नोक्त है :–

(१) सामान्यतः किसी भी भाषा में 'अर्थ' प्रत्याय्य होता है और ध्वनि, पद एवं वाक्य प्रत्यायक होते है । अतः किसी भी भाषा के व्याकरण में ध्वनि, पद एवं वाक्य की निश्चित आन्तरिक बुनावट की चर्चा की जाती है । लेकिन यहाँ पर कोई ऐसा समझ ले कि व्याकरण में केवल प्रत्यायक ध्वनि, पद एवं वाक्य का ही विचार किया जाता है; और प्रत्याय्य ऐसा 'अर्थ' व्याकरण की सीमा से बाहर ही रहता है । तो ऐसी मान्यता पाणिनीय व्याकरण के लिए नितान्त असत्य है । क्योंकि पाणिनि का व्याकरण पृथक्करणात्मक नहीं है; वह तो संयोजनात्मक है । अतः पाणिनिने तो 'अर्थ' को आरम्भबिन्दु पर ही (in–put के रूप में) स्थापित किया है ।

---

26. स्वभावत एतेषां शब्दानामेतेष्वर्थेष्वभिनिविष्यनां निमित्तत्वेनान्वाख्यानं क्रियते । तद्यथा – कूपे हस्तदक्षिणः पन्थाः, अभ्रे चन्द्रमसं पश्य 'इति स्वभावतस्तस्य तत्रस्थस्य पथश्चन्द्रमसश्च निमित्तत्वेनान्वाख्यानं क्रियते । एवमिहापि चार्थे यः स द्वन्द्वः, अन्यपदार्थे च स बहुव्रीहिरिति । २–१–१ इत्यत्र महाभाष्यम् ॥

(२) पाणिनि ने जो जो अर्थ–प्रदर्शन किया है वह अनेक प्रकार का है । यहाँ पर 'अर्थ' का स्वरूप केवल लिङ्ग वचनादि रूप व्याकरणिक स्वरूप का ही नहीं है । मनुष्यजीवन में मनोगत भावादि स्वरूप विशिष्ट प्रकार का अर्थ भी शब्द से अभिधेय होता है ।

(३) पाणिनि का व्याकरण केवल 'शब्दनिष्पादक तन्त्र' स्वरूप का ही नहीं है, वह 'वर्णनात्मक प्रकार' का भी व्याकरण है । अतः उसमें भौगोलिक परिवेश, सामाजिक परिस्थिति, विशिष्ट संभाषण सन्दर्भ, पुराकथाशास्त्रीय एवं दार्शनिक, सांस्कृतिक सन्दर्भादि स्वरूप अर्थ भी उल्लिखित हुए है ।

(४) रूप साधनिका के दौरान इन विभिन्न प्रकार के अर्थों से पाणिनिने अनेकविध कार्य सम्पन्न किये है । सामान्यतः अर्थ को रूप प्रक्रिया के आरम्भ बिन्दु पर ही रखा गया है; परन्तु कुत्रचित् रूपप्रक्रिया के पूर्वोक्त पाँच सोपान में से तृतीय–चतुर्थ सोपान पर भी, अर्थ को निमित्त बनाकर कुछ ध्वनिविकारादि का कार्य सम्पन्न किये जाते है ।

(५) **'वाक्यपदीय'** जैसे उपजीव्य ग्रन्थ के आधार पर **'वैयाकरणभूषण(सार)'** एवं **'वैयाकरण-सिद्धान्तमञ्जूषा'** इत्यादि ग्रन्थो की रचना की गई है । ऐसे ग्रन्थो में जो शब्दार्थ की विचारणा प्रस्तुत की गई है वह केवल व्याकरणिक अर्थों का ही विश्लेषण है । (जैसे कि – धात्वर्थ–निर्णय, सुबर्थ–निर्णय, लकारार्थ, तिङर्थ निर्णय इत्यादि) और इन अर्थों में पारस्परिक विशेष्य–विशेषणभावादि रूप सम्बन्ध बताकर शाब्दबोध की प्रक्रिया का विचार किया है । वहाँ पर (भूषण–मञ्जूषादि ग्रन्थों में) पाणिनि द्वारा चर्चित सामाजिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक, संभाषणसन्दर्भादि रूप विभिन्न अर्थों की ओर ध्यान नहीं दिया गया है ।

ॐ

सम्भाषणसन्दर्भ के पुरस्कर्ता – वार्त्तिककार

(तृतीय व्याख्यान)

वाक्यकारं वररुचिं भाष्यकारं पतञ्जलिम् ।
पाणिनिं सूत्रकारञ्च प्रणतोऽस्मि मुनित्रयम् ॥

0.0 भूमिका :

0.1 पाणिनीय व्याकरण के मुनित्रय :

यह तो सुविदित ही है कि 'पाणिनीय व्याकरण' में तीन मुनिओं की रचनाओं का समावेश होता है : (१) पाणिनि का 'अष्ट्यध्यायी' नामक सूत्रपाठ, (२) कात्यायन के वार्त्तिक, और (३) पतञ्जलि–विरचित 'व्याकरण–महाभाष्य' । पाणिनि द्वारा 'अष्ट्यध्यायी' की रचना हो जाने के बाद; संस्कृत भाषा के विषय में जो कुछ नया चिन्तन हुआ और भाषा में जो कुछ परिवर्तन आयें उसी के उपलक्ष्य में पाणिनि के सूत्रपाठ में कुठ नयें वार्त्तिक जोड़ने की आवश्यकता महसूस हुई । अतः कात्यायनने कुछ 'वार्तिक' बनायें । परम्परा के अनुसार कात्यायन का एक दूसरा नाम 'वररुचि' भी था । 'वररुचि' यानें (भाषा के विषय में) जिसकी रुचि उत्कृष्ट है ! अतः जनसमुदाय में संस्कृत भाषा का जो प्रयोग हुआ करता था, उसकी वे बारिकी से परीक्षा करने वाले थे । अतः उनका 'वररुचि' ऐसा नाम यथार्थ ही था । पाणिनि ने अपने सूत्रों में जो कुछ भी कहा है, उसका तात्पर्यार्थ क्या है ? जो कहा है इसी को क्या दूसरे ढंग से कहा जा सकता है नहीं ?, सूत्रों में कुछ कहने का छुट गया है, अवशिष्ट रहा है या नहीं ? अथवा, सूत्र में अनवधान से कुछ ठीक तरह से नहीं कहा गया है ? तो सूत्रकार के ऐसे दुरुक्तकथन को निर्दोष बनाने के लिए भी वार्त्तिक–वचन की आवश्यकता होती है । कात्यायन ने ऐसे विभिन्न दृष्टिकोण को लेकर अनेक वार्त्तिकों की रचना की है । संक्षेप में कहना चाहें तो पाणिनि की 'अष्ट्यध्यायी' को शास्त्रीय दृष्टि से सुदृढ़ बनाने के लिए और उत्तरवर्ती काल में भाषाप्रयोग के विषय में जो परिवर्तन आया हुआ था उसी को वचनबद्ध करने लिए कात्यायनने अपनी कलम चलाई है ॥

तत्पश्चात् पतञ्जलि नामके एक तीसरे वैयाकरण आये, जिन्होंने "व्याकरण–महाभाष्य" की रचना की है । उन्होंने पाणिनि के सूत्रों का अर्थप्रदर्शन करने के लिए आक्षेप–प्रतिआक्षेप और दोनों के गुणदोष की चर्चा करने के लिए एक बड़ी रोचक संवाद शैली का आश्रयण

किया है । ऐसी चर्चा के प्रसङ्ग में उन्होंने बीच बीच में कात्यायन के वार्त्तिकों को भी प्रस्तुत किया है; तथा ऐसे वार्त्तिकों की आवश्यकता है कि नहीं ? इसके लाभालाभ की भी चर्चा स्थान स्थान पर की है । इस तरह से "पाणिनीय–व्याकरण" का कलेवर सूत्र, वार्त्तिक एवं भाष्य से बना हुआ परिपूर्ण हुआ है ॥ अतः इस व्याकरण को "त्रिमुनि–व्याकरणम्" भी कहा जाता है ॥

0.2 कात्यायन आदि अनेक वार्त्तिककार :

पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' को सुदृढ एवं निर्दुष्ट बनाने के लिए वार्त्तिकों की प्रमुख रूप से रचना करनेवाले कात्यायन ही है ।[1] परन्तु केवल कात्यायन ने ही वार्त्तिक लिखें हैं ऐसा नहीं है । पतञ्जलि ने कात्यायन के अलावा अन्य वार्त्तिककारों का भी कहीं कहीं नामोल्लेख किया है । जैसा कि –

(१) **भारद्वाजीयाः** पठन्ति – एकदेशविकृतेषूपसंख्यानम् । (वार्त्तिक–९) ॥ एकदेशविकृतेषूपसंख्यानं कर्तव्यम् ॥ (१–१–५६ इत्यत्र भाष्यम् ।)[2]

(२) नैतदस्ति प्रयोजनम् – अद्यश्र्यादित्येव भवितव्यम् । एवं हि **सौनागाः** पठन्ति । चोऽनर्थकोऽनधिकारादेङ : ॥[3]

(३) परिभाषान्तरमिति च मत्वा **क्रोष्ट्रीयाः** पठन्ति । नियमादिको गुणवृद्धी भवतो विप्रतिषेधेनेति ॥[4]

(४) शंकरा नाम परिव्राजिका, शंकरा शकुनिका तच्छीला च, तस्यामुभयं प्राप्नोति । परत्वाट्टः स्यात् ।

---

1. स्मादिविधिः पुरान्तो यद्यविशेषेण किं कृतं भवति ।
   न स्मपुराद्यतन इति ब्रुवता **कात्यायनेनेह** ॥ १ ॥ (वार्त्तिकम्)
   (भाष्यम्) स्मादिविधिः पुरान्तो यद्यविशेषेण भवति किं वार्त्तिककारः प्रतिषेधेन करोति, न स्मपुराद्यतन इति ॥ ३–२–११८ इत्यत्र **व्याकरण–महाभाष्यम्** (Vol. II) Ed. F. Kielhorn, Bhandarkar Oriental Research Institute, Pune, 1965, (p. 121).
2. **व्याकरणमहाभाष्यम्** (Vol. I) Ed. F. Kielhorn, BORI, Pune, 1962 (p. 136).
3. **व्याकरणमहाभाष्यम्** (Vol. III), BORI, 1972, (p. 76).
4. **व्याकरणमहाभाष्यम्** (Vol. I), BORI, 1965 (p. 46).

धातुग्रहणसामर्थ्यादजेव भवति । 'कुणरवाडवस्त्वाह । नैषा शंकरा । शंगरा एषा । गृणातिः शब्दकर्ता तस्यैष प्रयोगः ॥[5] इत्यादि ॥

परन्तु कात्यायन से भिन्न जो जो वार्त्तिककारों का नामोल्लेख पतञ्जलि ने किया है वह बहुत गणनापात्र नहीं है । अतः इस व्याख्यान में 'वार्त्तिककार' के नाम से जो भी चर्चा प्रस्तुत की जायेगी वह कात्यायन को उद्दिष्ट करके ही है – ऐसा मानना चाहिए ॥

0.3 'वार्त्तिक' का लक्षण एवं उदाहरण :

जिस तरह से परम्परा में 'स्वल्पाक्षरमसंदिग्धम्०' इत्यादि शब्दों से 'सूत्र' का लक्षण प्रस्तुत किया गया है, वैसे ही 'वार्त्तिक' का भी एक लक्षण दिया गया है :–

उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते ।
तं ग्रन्थं वार्त्तिकं प्राहुर्वार्त्तिकज्ञा मनीषिणः ॥[6]

अर्थात् – जिस में उक्त, अनुक्त और दुरुक्त विषयों का चिन्तन (विचार) किया जाता है, उस ग्रन्थ को (या वचन को) वार्त्तिकज्ञ मनीषीओं वार्त्तिक कहते हैं ॥ पाणिनि के सूत्रों पर कात्यायन ने जो वार्त्तिक लिखें हैं, वह भी तीन प्रकार के दिखाई पड़ते है । तीनों प्रकार के वार्त्तिक के उदाहरण निम्नोक्त हैं :–

(क) उक्त–चिन्ता प्रवर्तक वार्त्तिक :

'अष्टाध्यायी' के सूत्रों के प्रयुक्त शब्दावली की यथार्थता उद्‌घाटित करने के लिए चर्चा के प्रारम्भ में कतिपय आक्षेप दिये जाते है और बाद में उसका समाधान दिया जाता है । ऐसे प्रसङ्ग में जो वार्त्तिक प्रस्तुत किये जाते है उसे 'उक्त–चिन्ता प्रवर्तक वार्त्तिक' कहते है । दूसरे शब्दों में कहे तो सूत्रस्थ शब्द, जो (सूत्रकार द्वारा) 'उक्त' है, उसके प्रयोजन की चिन्ता यानें विचारणा करने वाले वार्त्तिक को 'उक्तचिन्ता प्रवर्तक' कहते है । उदाहरण के लिए – (१) *यू स्त्र्याख्यौ नदी । १–४–३* सूत्र से 'नदी' संज्ञा का विधान किया गया है । उस सूत्र की पदावली में 'आख्या' शब्द का प्रयोग किया गया है । विचार की पूर्व अवस्था में पूर्वपक्ष यह मान लेता है कि इस शब्द का प्रयोग व्यर्थ है । इस के बिना भी काम चल सकता है ।

---

5. ३–२–१४ इत्यत्र व्याकरणमहाभाष्यम् (Vol. II), BORI, (p. 100)
6. द्रष्टव्यः – पराशर – उपपुराण ।

पूर्वपक्ष के इस आशय को, अर्थात् 'आख्या' पद का प्रयोग क्यों किया गया है ? इस जिज्ञासा के उपलक्ष्य में वार्त्तिककार ने कहा है कि –

"नदीसंज्ञायाम् 'आख्या' ग्रहणं स्त्रीविषयार्थम्" (वा.–१) अर्थात् नदीसंज्ञा के विषय में 'आख्या' शब्द का प्रयोग इस लिए किया जाता है कि – जो दीर्घ ई–कारान्त एवं दीर्घ ऊ कारान्त नित्य स्त्रीलिङ्ग शब्द होंगे, उसी की ही 'नदी' संज्ञा हो सके; (अन्य की नहीं) – यह स्पष्ट करने के लिए सूत्र में "आख्या" शब्द का ग्रहण किया गया है ।[7] यथा – ग्रामणी । सेनानी । जैसे दीर्घ ई कारान्त पुंलिङ्ग शब्दों की 'नदी' संज्ञा नहीं होगी ॥ इस तरह के वार्त्तिक को 'उक्तचिन्ताप्रवर्तक' कहते हैं ॥

(ख) अनुक्त–चिन्ता प्रवर्तक वार्त्तिक :

पाणिनि के सूत्र में जो नहीं कहा गया है, या जो कहा गया है वह अपर्याप्त है तो ऐसे स्थानों पर परिपूर्ति करने के लिए जो वार्त्तिक प्रस्तुत किया जाता है उसे अनुक्त चिन्ता प्रवर्तक वार्त्तिक कहते है । उदाहरण के लिए – पाणिनि ने ***कृत्याः । ३–१–९५*** सूत्र के अधिकार में, ***तव्यत्–तव्य–अनीयरः । ३–१–९६*** सूत्र रखा है । इस सूत्र से धातुमात्र से (कृत्यसंज्ञक) तीन प्रत्ययों का विधान किया गया है । जिससे 'पक्तव्य', 'पचनीय' जैसे शब्द सिद्ध होते हैं । सूत्रकार के इस विधान में पूर्वपक्ष को न्यूनता दिखाई देती है । इस न्यूनता की परिपूर्ति करने के लिए यहाँ पर वार्त्तिककार कहते है कि – **केलिमर उपसंख्यानम्** । (वार्त्तिक–१) अर्थात् धातु से परे /–केलिमर/ प्रत्यय भी होता है – ऐसा एक अधिक प्रत्यय भी कहना चाहिए । जिसके फल स्वरूप – "पचेलिमाः माषाः ।" या "भिदेलिमाः" सरलाः । इत्यादि शब्द भी सिद्ध हो सकते है । 'पक्तव्याः' या 'भेत्तव्याः' के अर्थ में ही यह दोनों (पचेलिमाः) (भिदेलिमाः) शब्दों का प्रयोग हो सकता है ।

यहाँ हम देख सकते है कि – 'तव्यत्', 'तव्य' और 'अनीयर्' प्रत्यय के साथ साथ एक नया, अथवा (सूत्रकार द्वारा) अनुक्त हो ऐसा एक /–केलिमर्/ प्रत्यय वार्त्तिककारने प्रदर्शित किया है । तो ऐसे वार्त्तिकों को 'अनुक्तचिन्ताप्रवर्तक' वार्त्तिक कहते हैं ॥

(ग) दुरुक्त चिन्ता प्रवर्तक वार्त्तिक :

पाणिनि ने अपने सूत्रों के द्वारा जो व्यवस्था निर्धारित की है, उसमें कुत्रचित् अतिव्याप्ति या अव्याप्ति रूप दोष भी दिखाई पडते हैं । उसको हटाने के लिए भी कात्यायनने कुछ

---

7. १–४–३ इत्यत्र **'व्याकरण–महाभाष्यम्'** (Vol. I), BORI, p. 313.

वार्त्तिक बनाये हैं । उदाहरण के लिए – (१) *येन विधिस्तदन्तस्य । १–१–७२* सूत्र से पाणिनि ने तदन्तविधि का विधान किया है । परन्तु वार्त्तिककार कहते है कि – *समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः ।* (वार्त्तिक–३) एवं *उगिद्वर्णग्रहणवर्जम् ।* (वार्त्तिक–४) यदि ऐसे दो वार्त्तिक नहीं स्वीकारते हैं, तो *द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः । २–१–२४* सूत्र से कष्टं श्रितः इति 'कष्टश्रितः' जैसा समास तो होगा ही; परन्तु "कष्टं परमश्रितः" इति जैसे विग्रहवाक्य में श्रितान्त (= परमश्रित) शब्द का भी 'कष्टम्' के साथ अनिष्ट समास हो जायेगा । ऐसे अनिष्ट से बचने से लिए, "समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः ।" वार्त्तिक बनाना आवश्यक है; अनिवार्य है ॥

(२) इसी तरह से *विप्रतिषेधे परं कार्यम् । १–४–२* सूत्र के द्वारा कहा गया है कि विप्रतिषेध के प्रसङ्ग में परसूत्र पूर्वसूत्र का बाध करता है । परन्तु कात्यायन ने सूक्ष्मेक्षिका से कतिपय स्थान ऐसे भी देखे हैं कि जहाँ परसूत्र की अपेक्षा पूर्वसूत्र ही बलवान मानना आवश्यक है। ऐसे स्थानों की गीनती करके वार्त्तिककारने कहा है कि – *गुणवृद्ध्यौत्त्वतृज्वद्भावेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषेधेन ॥* (७–१–९६ इत्यत्र महाभाष्यम्) । "त्रपुणे – जतुने" जैसे उदाहरणों में *घेर्ङिति* (७–३–१११) सूत्र से गुण की प्राप्ति भी है; और *इकोऽचि विभक्तौ* (७–१–७३) सूत्र से /–नुम्–/ आगम की भी प्राप्ति है । पूर्वत्व–परत्व की दृष्टि से ७–३–१११ सूत्रोक्त 'गुण' कार्य पर है । परन्तु यहाँ पर परसूत्रोक्त कार्य करने पर अनिष्ट की आपत्ति है । अतः वार्त्तिककार, सूत्रकारोक्त (१–४–२) व्यवस्था को बदल कर, नुम् आगम के विषय में पूर्वसूत्र (७–१–७३) ही बलवान मानना आवश्यक बताते है ।

इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि वार्त्तिककार कात्यायनने पाणिनि के सूत्रों के उपर त्रिविध (उक्त–अनुक्त–एवं दुरुक्त) चिन्ता प्रवर्तक वार्त्तिक लिखें हैं ॥

इन तीनों प्रकार के वार्त्तिकों से कात्यायनने जो कार्य किया है उसकी व्याकरणिक दृष्टि से भी समीक्षा करनी चाहिए :–

(१) कात्यायन ने *"संयोगान्तस्य लोपे यणः प्रतिषेधो (वक्तव्यः)"*[8] ऐसा (दुरुक्तचिन्ता–प्रवर्तक) वार्त्तिक लिख कर 'दध्यत्र–मध्यत्र' जैसे उदाहरणों की इष्टसिद्धि का मार्ग प्रशस्त किया है । यह वार्त्तिक ध्वनिशास्त्र की पूर्ण अभिज्ञता का द्योतक है । क्योंकि *इको यणचि ।*

---

8. संयोगान्तस्य लोपः । ८–२–२३ इत्यत्र **महाभाष्यम्** । Vol. III, BORI, Poona, 1972, p. 401.

६–१–७७ सूत्र से जो यणादेश का विधान किया गया है; वह तो इक् वर्णों का प्रतिनिधि है। अब *संयोगान्तस्य लोपः ८–२–२३* से यदि यण् का लोप हो जायेगा, तो 'दध्अत्र' में से इष्टार्थ की प्रतीति/प्राप्ति ही नहीं होगी।

(२) *मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु । २–३–१७* सूत्र से √मन् (दैवादिक) धातु के कर्म, जो प्राणी–भिन्न हो, उसको विकल्प से चतुर्थी विभक्ति का विधान किया गया है। परन्तु कालान्तर में "अप्राणिषु" यह संकोच अपर्याप्त एवं अतिव्यापक लगने से, कात्यायनने ★ **नौ–काक–अन्न–शुक–शृगालवंर्जेषु इति वाच्यम्** ★ ऐसा वार्त्तिक प्रस्तुत किया है। ऐसे अनुक्तचिन्ताप्रवर्तक वार्त्तिक से भाषा में आये हुए ऐतिहासिक परिवर्तन को ही वचनबद्ध करने का प्रयास किया गया है॥ इस तरह से ४–१–४९ सूत्रस्थ ★ **यवनाल्लिप्याम्** ★ इत्यादि वार्त्तिक भी देखे जाने चाहिए॥

(३) कात्यायन ने कुत्रचित् भाषा में आर्य हुए अर्थसंकोच या अर्थविस्तरण का भी उल्लेख किया है। जैसा कि – **स्त्रियाम् ४–१–३** के अधिकार में आये हुए स्त्रीप्रत्यय विधायक सूत्रों के उपर जो वार्त्तिक प्रस्तुत किये गये हैं उससे यह ज्ञात होता है॥

(४) कात्यायन ने १–४–२ के सन्दर्भ में जो पूर्वविप्रतिषेध का परिगणन करनेवाले दुरुक्तचिन्ताप्रवर्तक वार्त्तिक लिखे हैं, उससे शास्त्रीयभूलों का सुधार प्रदर्शित किया गया है॥

अतः कात्यायन के कार्य की समीक्षा करने से पहले यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि कात्यायन ने "तीन प्रकार के वार्त्तिक" लिखें हैं इतना (ही) कहना पर्याप्त नहीं है। तीन प्रकार के वार्त्तिकों से जो कुछ कहा गया है, उसकी आधुनिक (भाषाशास्त्रीय एवं भाषावैज्ञानिक) दृष्टि से भी समीक्षा करनी जरूरी है॥

0.4 कात्यायन के कार्य की आलोचना :

यद्यपि कात्यायन ने पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' को सुदृढ एवं अनवद्य बनाने के लिए ही 'वार्त्तिक' की रचना की थी। परन्तु परम्परा में कात्यायन के कार्य या अवदान का योग्य मूल्यांकन नहीं हो पाया है। क्योंकि वार्त्तिक वचन का जो लक्षण दिया गया है, उसमें 'वार्त्तिक' को पाणिनीय सूत्र के केवल व्याख्यानभूत वचन ही नहीं कहा गया है। (तीन प्रकार के वार्त्तिकों में से जो केवल उक्तचिन्ता प्रवर्तक वार्त्तिक है, उसी को देखकर ही हम वार्त्तिक

---

9. द्रष्टव्यः – **व्याकरणमहाभाष्यम्** (प्रथमो भागः) प्रदीपोद्द्योत सहितम्, प्रका० मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६७ (पृ. १०५).

को 'सूत्र के व्याख्यानभूत–वचन' कह सकते है ।) परन्तु कात्यायन ने तो अन्य दो प्रकार के वार्त्तिक भी लिखे है । जैसा कि – नागेश भट्टने **वृद्धिरादैच् । १–१–१** सूत्र के प्रथम वार्त्तिक (संज्ञाधिकारः संज्ञासंप्रत्ययार्थः) पर 'उद्द्योत' में लिखा है कि **सूत्रेऽनुक्त–दुरुक्तचिन्ता-करत्वं वार्त्तिकत्वम् ।**[9] पाणिनि के सूत्र में न्यूनता या अव्याप्त्यादि दोष देखकर सूत्र की पूर्ति करने के लिए या निर्दोष बनाने के लिए भी वार्तिक वचन लिखे गये है । अतः कोई भी अध्येता कात्यायन को पाणिनि के 'दोषज्ञ वैयाकरण' के रूप में समझें तो उसमें आश्चर्य की बात नहीं है । पाणिनि के कथन में सुधार करने वाले के रूप में कात्यायन को यदि देखा गया होता तो भी कदाचित् उसकी प्रशंसा हो सकती थी । परन्तु भाग्यवशात् परम्परा में, आगे चलकर जो भाष्यकार पतञ्जलि आये उन्होंने भी कात्यायन के अनेक वार्त्तिकों का अवतार करके और उसके गुणदोष की चर्चा करने के बाद, अन्त में प्रायः वार्त्तिककार के प्रस्ताव का अस्वीकार ही किया है । भाष्यकार का प्रयास ऐसा ही रहता है कि सूत्र के शब्दों का सूक्ष्मेक्षिका से पर्यालोचन करने से इसमें से व्यापक या एक विशिष्ट अर्थ भी मिल सकता है । जिसके कारण वार्त्तिकवचन की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती । उदाहरण के लिए – ***विप्रतिषेधे परं कार्यम् । १–४–२*** सूत्र पर वार्त्तिककार ने एक वार्त्तिक लिख कर कतिपय स्थानों पर 'पूर्वविप्रतिषेध' की आवश्यकता प्रदर्शित की है । परन्तु भाष्यकार ने कहा है कि सूत्र में आये हुए **"परं कार्यम्"** शब्द का अर्थ केवल 'पश्चाद्वर्ती' ऐसा ही नहीं होता है; परन्तु 'पर' शब्द इष्ट वाचक भी है ।[10] जहाँ पूर्वसूत्र की प्रवृत्ति इष्ट है/आवश्यक है तो उसको भी स्वीकारने से अब पूर्वोक्त वार्त्तिकवचन की आवश्यकता नहीं रहेगी ॥

इस तरह से भाष्यकार ने बहुत स्थानों पर कात्यायन के वार्त्तिकों का खण्डन किया है ।

यद्यपि यहाँ पर, एक वास्तविकता यह भी रही है कि भाष्यकार के द्वारा तिरस्कृत वार्त्तिकों में से ऐसे अनेक वार्त्तिक हैं, जो 'काशिका' जैसे वृत्तिग्रन्थों और 'सिद्धान्तकौमुदी' जैसे प्रक्रिया ग्रन्थो में सर्वथा स्वीकार्य ही रहे हैं । अतः प्रश्न होता है कि क्या भाष्यकार ने कहीं कात्यायन को अन्याय तो नहीं किया हैं ने ? इस प्रश्न का समाधान ऐसे सोचना चाहिए कि भाष्यकार के मनमें यह बात रही होगी कि स्थान स्थान पर यदि वार्त्तिककार के प्रस्ताव को हम स्वीकारते चलेंगे तो 'अष्टाध्यायी' का पूरा सूत्रपाठ बदल जायेगा । परन्तु 'अष्टाध्यायी' का ग्रन्थन किसी भी तरह से शिथिल तो नहीं हो जाना चाहिए । अतः सूत्र में ही तोड़–जोड़ करके या शब्दों

---

10. स तर्हि पूर्वविप्रतिषेधो वक्तव्यः । न वक्तव्यः । इष्टवाची परशब्दः । विप्रतिषेधे परं यदिष्टं तद् भवतीति ॥ ७–१–९६ इत्यत्र **व्याकरण महाभाष्यम्** (Vol. III), BORI, p. 276.

के नये या अप्रचलित अर्थ याद दिला के, वे कात्यायन के प्रस्ताव को ठुकराते है । यह एक दृष्टिभेद का प्रश्न है । अन्यथा कात्यायन ने जो 'अष्टाध्यायी' की सेवा की है, वह अत्यन्त महनीय है ॥

* * *

पाणिनीय व्याकरण–परम्परा में पहले पाणिनि द्वारा 'अष्टाध्यायी' सूत्रपाठ लिखा गया । उस सूत्रपाठ के उपर कात्यायन ने वार्त्तिक लिखें । और पतञ्जलिने इन दोनों (सूत्र एवं वार्त्तिक) पर 'व्याकरण–महाभाष्य' की रचना की । इन तीनों के संयुक्त एवं संनिष्ठ आयास से ही पाणिनीय–व्याकरण का 'तन्त्र' खड़ा हुआ है । परन्तु आधुनिक अध्येताओंने इन तीनों आचार्यों के पारस्परिक सम्बन्ध को जिन दृष्टि से देखा है वह भी उल्लेखनीय है । पाणिनि के साथ कात्यायन का सम्बन्ध किस तरह का माना जाय ? और पतञ्जलि का पाणिनि एवं कात्यायन के साथ किस तरह का सम्बन्ध रहा होगा ? प्राथमिक दृष्टि से तो लगता है कि इन दोनों का सम्बन्ध; एक टीकाकार जैसे हि रहे होगें । परन्तु 'वार्त्तिक' का पूर्वोक्त लक्षण (जिस में कहा गया है कि पाणिनि के सूत्र पर जो अनुक्त एवं दुरुक्त चिन्तन प्रस्तुत करनेवाले वचन है – उसे 'वार्त्तिक' कहते है) देखकर कात्यायन का पाणिनि के साथ केवल एक टीकाकार का सम्बन्ध रहा होगा ऐसा नहीं लगता है । एवमेव भाष्यकारने भी अनेक वार्त्तिकों का खण्डन किया है । अतः पतञ्जलि भी कात्यायन के व्याख्याकार के रूप में उभर कर नहीं आते है ॥ गोडलस्टुकर नामक एवं जर्मन विद्वान् कहते है कि – कात्यायन पाणिनि के प्रशंसक अथवा मित्र रहे हो ऐसा नहीं लगता है । परन्तु कात्यायन पाणिनि के विरोधी के रूप में, बल्कि अनुचित विरोधी के रूप में हमारे सामने आते है ।[11] दूसरी और पतञ्जलि पाणिनि का ही पक्ष लेते है; उसका ही समर्थन करते है । और कदाचित् कात्यायन को अन्याय भी कर देते है ।[12]

---

11. Kātyāyana, in short, does not leave the impression of an admirer or friend of Pāṇini, but that of an antagonist; – often, too, of an unfair antagonist. – **PĀṆINI : His place in Sanskrit Literature,** by Theodor Goldstucker, Pub. Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi, 1965, (p. 132).
12. Patañjali often refutes the stricutures of Kātyāyana and takes the part of Pāṇini; ....he sometimes overdoes his defence of Pāṇini, and becomes unjust to Kātyāyana. – Ibid, (p. 133).

दूसरी और प्रोफे. एस. डी. जोशी (पूर्णे) जैसे विद्वान् कहते है कि – कात्यायन शब्दों के अर्थ की मीमांसा ज्यादा करते है, और दार्शनिक चिन्तन की और अधिक झुकते है ।[13] इस तरह से कात्यायन के कार्य का मूल्यांकन अद्यावधि विवादास्पद रहा है । क्योंकि, गोल्डस्टुकर के शब्दों में कात्यायन भले ही पाणिनि के विरोधी लगते हो; 'अष्ट्यध्यायी' को अनवद्य एवं परिपूर्ण बनाने के लिए कात्यायन का अवदान अविस्मरणीय है । एवमेव, डो. जोशी (पूर्णे)ने जैसा कहा है, कात्यायन ने जो शब्दार्थ–विचारणा की ओ विशेष ध्यान आकर्षित किया है, वह भी समुचित है । प्रस्तुत व्याख्यान में, हम आगे चल कर कात्यायन का एक और विशिष्ट अवदान उजागर करना चाहते है ।

* * *

कात्यायन ने शब्दार्थ की विचारणा करने के साथ साथ, वक्ता एवं श्रोता के बीच में जो सम्भाषण–सन्दर्भ होता है, (जिसको Pragmatics कहते है) उसको भी मध्ये नजर रखते हुए कतिपय वार्त्तिक लिखे हैं । जिसके फल स्वरूप यह बात भी ध्यान में आती है कि व्याकरणतन्त्र के अन्तर्गत केवल 'पदत्वसंपादक–विधियाँ' और 'पदोद्देश्यकविधियाँ' ही बतानी पर्याप्त नहीं है; 'किस सम्भाषण सन्दर्भ में कौन सा विशिष्ट वाक्य (या शब्द) प्रयोग होता है ?' यह भी उल्लेखनीय बनता है । कात्यायन का, इस दिशा में जो एक विशिष्ट अवदान है; और जो अद्यावधि अनुल्लिखित भी रहा है वह प्रस्तुत व्याख्यान का प्रमुख्य वक्तव्य है ॥

1.0 'सम्भाषण–सन्दर्भ' की व्याख्या :

पाणिनि ने अपने व्याकरणतन्त्र में 'अर्थ' को आरम्भ–बिन्दु पर रख कर प्रकृति + प्रत्यय के संयोजन की प्रक्रिया प्रदर्शित की है । उसमें जो द्रव्यादि पदार्थों के कोशगत अर्थ होते है, वह तो रूढि से प्रसिद्ध होते है । व्याकरण–प्रक्रिया (या रूपसाधनिका) के आरम्भ में ही ऐसे कोशगत अर्थ की वाचिका 'प्रकृति' का चयन किया जाता है । फिर, प्रकृति के जो लिङ्ग–वचनादि होते हैं; और उस प्रकृतिवाच्य व्यक्ति/पदार्थ का क्रिया में जो कारकत्व होता है उन (तीनों) को व्यक्त करनेवाला 'प्रत्यय' लिया जाता है । (यहाँ प्रत्यय से प्राप्त होने वाले लिङ्ग–वचन–कारकादि रूप अर्थ "व्याकरणिक अर्थ" कहे जायेंगे ।) तत्पश्चात् यह दोनों (प्रकृति + प्रत्यय) का संयोजन

---

13. Katyāyan has a philosophical bend of mind ....It appears that he is more concerned with meaning and philosophization. – **Samarthāhnika,** by S. D. Joshi, University of Poona, 1968, p. xvi–xvii.

शूरू होता है । अन्ततोगत्वा, उसमें से विभिन्न प्रकार के सुबन्त पद एवं तिङन्त पद रूप वाक्यनिष्पन्न होता है । तन्त्र से निष्पन्न हुआ ऐसा 'वाक्य' जब वक्ता–श्रोता के बीच में एक विशिष्ट माहोल में प्रयुक्त होता है, तो वहाँ जो वाक्यार्थ प्राप्त होगा वह केवल कोशगत एवं व्याकरणिक अर्थ तक सीमित नहीं रहेगा । वहाँ पर कदाचित् एक नया सम्भाषण–सन्दर्भ भी उस अर्थ में जुड़ जाता है । उदाहरण के लिए – **यस्य च भावेन भावलक्षणम्** । २–३–३७ सूत्र से भावलक्षणा (सति) सप्तमी का विधान किया गया है । जब कोई ज्ञात क्रिया से अज्ञात क्रिया का काल बोधित करने की विवक्षा होती है तो वहाँ ऐसी सप्तमी विभक्ति का प्रयोग किया जाता है । यथा – गोषु दुह्यमानासु, देवदत्तः ग्रामं गतः । यहाँ पहले प्रश्न होता है कि – देवदत्तः कदा गतः ? तो देवदत्त के (अज्ञात) गमन काल को बोधित करनेवाली जो गोदोहन रूप ज्ञातक्रिया होती है, तद्वाचक (कृदन्त) शब्दको, और उस क्रिया के कर्ता/कर्म को सप्तमी विभक्ति लगाई जाती है । यहाँ पर 'भावेन भावलक्षणम्' शब्दों से केवल व्याकरणिक–अर्थ का निर्देश हुआ है । परन्तु प्रकरणवशात् या विशिष्ट वक्ता–श्रोता के सन्दर्भ में कदाचित् दोनों क्रियाओं के बीच एक कार्यकारण भाव का सम्बन्ध भी उद्भासित करने के लिए ही भावलक्षणा सप्तमी का प्रयोग किया जाता है । यथा – मातुल घर से पधारे भरत को जब सुमन्त्र कहता है कि **रामे वनं गते, दशरथः प्राणान् तत्याज** । "(जब राम वन में चले, तो दशरथने अपने प्राणों को त्याग दिया)" ऐसे वाक्य में दो क्रियाओं के बीचमें कार्यकारणभाव सम्बन्ध व्यक्त करने के लिए ही भावलक्षणा सप्तमी का यहाँ प्रयोग किया गया है । "राम के वन में जाने के **कारण**, दशरथ के प्राण निकल गयें ।"

वाग्–व्यवहार में जो वक्ता–श्रोता का माहोल होता है उसको 'सम्भाषण–सन्दर्भ' कहते है । ऐसे सम्भाषण–सन्दर्भों में वक्ता की विशेषण विवक्षा का, विशिष्ट प्रकार की भाषाभिव्यक्ति का चयन, एवं श्रोता के मन पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है – इन बातों का अध्ययन किया जाता है । साथ में, वक्ता का सामाजिक परिवेश एवं उसकी मानसिक भूमिका भी देखी जाती है । निश्चित सम्भाषण सन्दर्भ में जो विशिष्ट प्रकार की भाषाभिव्यक्ति का आश्रयण किया जाता है, उससे कोशगत अर्थ एवं लिङ्गवचनादि रूप व्याकरणिक अर्थ से जो कुछ नया अधिक अर्थ प्राप्त होता है वह भी अध्ययन का विषम बनता है ॥

1.1 सम्भाषण–सन्दर्भ एवं व्याकरण का कार्यक्षेत्र :

(कोशगत एवं व्याकरणिक) 'अर्थ' से आरम्भ करके, वाक्यनिष्पत्ति पर्यन्त की तान्त्रिक प्रक्रिया प्रस्तुत करनेवाले वैयाकरण से क्या हम यह उम्मिद कर सकते है कि वह अपने

व्याकरण में सम्भाषण–सन्दर्भों का भी उल्लेख करे ? सम्भव है कि किसी के मन में यह अपेक्षा हद से बाहर की लगे । अर्थात् सम्भाषण–सन्दर्भ की भी चर्चा करना व्याकरण के कार्यक्षेत्र में नहीं आता है ऐसा अभिप्राय स्वाभाविक लगता है ।

परन्तु पाणिनि का व्याकरण शब्दनिष्पादक तन्त्र होने के साथ साथ, वर्णनात्मक प्रकार का भी व्याकरण है । अतः यह आवश्यक है कि वह अपने व्याकरण में सम्भाषण–सन्दर्भों का भी निर्देश करते रहे । 'अष्टाध्यायी' के कतिपय सूत्रों में जहाँ सम्भाषण सन्दर्भ उल्लिखित हुआ है, वे सूत्र इस प्रकार है :–

(१) *नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य । ८–४–४८*

(२) *प्रत्यभिवादे चाऽशूद्रे । ८–२–८३*

(३) *ह्रेति क्षियायाम् । ८–१–६०*

(४) ***प्रहासे** च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च । १–४–१०६*

(५) ***यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु** । १–२–३४*

(६) *तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम् । ७–१–३५*

(७) *लुप–सद–चर–जप–जभ–दह–दश–गृभ्यो **भावगर्हायाम्** । ३–१–२४* इत्यादि ॥

उपर्युक्त सभी सूत्रों में, वक्ता–श्रोता के बीच में एक विशिष्यर्थ या मनोगत विशिष्ट भावना व्यक्त करने का सन्दर्भ प्रकट रूप से निर्दिष्ट है ॥ प्रत्यभिवादन, हास–परिहास, यज्ञकर्म, या आशीर्वाद–प्रदान करने की परिस्थिति तब ही होती है कि जहाँ वक्ता–श्रोता का महोल हो, और उन दोनों के बीच कुछ विशेष सम्भाषण–सन्दर्भ खड़ा हुआ हो । ऐसी स्थिति में भाषाकीय स्तर पर विशिष्ट शब्दावली या प्रत्ययादि का चयन किया जाता है ॥

2.0 अनुक्तचिन्ता–प्रवर्तक वार्त्तिक का त्रैविध्य :

कात्यायन के अनुक्तचिन्ता–प्रवर्तक वार्त्तिकों का अध्ययन करने से मालुम पड़ता है कि वे तीन प्रकार के होते हैं । यथा –

(१) सूत्रकार के द्वारा जो शब्द (प्रातिपदिक) या प्रत्ययादि का परिगणन नहीं किया गया है, उसका निर्देश वार्त्तिककार करते है । उदाहरण के लिए – सूत्रकार ने ***यचि भम् । १–४–१८*** सूत्र से यकारादि एवं अजादि प्रत्यय पर में रहते पूर्व में आये हुए शब्द

की 'भ' संज्ञा का विधान किया है । परन्तु यहाँ वार्त्तिककार कहते है कि – *नभोऽङ्गिरोमनुषां वत्युपसंख्यानम् । (वा० ३)* अर्थात् नभस्, अङ्गिरस् एवं मनुष् शब्द की भी 'भ' संज्ञा होती है; जब वकारादि /–वत्/ प्रत्यय पर में रहे तब भी ॥ नभस्वत् । अङ्गिरस्वत् ॥ – यहाँ सूत्रकार से वकारादि /–वत्/ प्रत्यय का परिगणन छुट गया था; जिसको वार्त्तिककारने पूर्ण कर दिया है ।

(२) 'अष्टाध्यायी' में कतिपय स्थान ऐसे है कि जहाँ सूत्रकार ने सामान्यरूप से ही प्रत्ययविधान किया होता है; वहाँ अर्थनिर्देश नहीं किया होता है । अथवा कालान्तर में अर्थसंकोच या अर्थपरिवर्तनादि हो जाने के कारण निश्चित या नया अर्थनिर्देश करना जरूरी बन जाता है । यथा – *अश्व–क्षीर–वृष–लवणानाम् आत्मप्रीतौ क्यचि । ७–१–५१* सूत्र से, /–क्यच्/ प्रत्यय परमें रहते 'असुक्' आगम का विधान किया गया है । परन्तु वार्त्तिककार यहाँ कहते है कि *अश्व–वृषयोर्मैथुनेच्छायाम् (वा० १) ।* अर्थात् जहाँ पर "वडवा (अश्वा) अश्वम् मैथुनाय इच्छति" ऐसा अर्थ व्यक्त करना अभीष्ट होगा तब 'असुक्' आगम हो कर '(वडवा) अश्वस्यति' । जैसा रूप सिद्ध होगा । परन्तु जब 'देवदत्तः आत्मनः अश्वम् इच्छति' । ऐसा अर्थ व्यक्त करना होगा तब केवल क्यजन्त रूप 'देवदत्तः अश्वीयति ।' ही बनेगा ॥

इसी तरह का एक दूसरा उदाहरण है :– *गुप्तिज्किद्भ्यः सन् । ३–१–५* सूत्र से जो /–सन्/ प्रत्यय का विधान किया गया है, उसमें कोई विशेषार्थ का निर्देश सूत्रकारने किया ही नहीं है । परन्तु यहाँ काशिकाकार ने एक वार्त्तिक उद्धृत किया है : *निन्दा–क्षमा–व्याधिप्रतीकारेषु सन्निष्यतेऽन्यत्र यथाप्राप्तं प्रत्यया भवन्ति ।* अर्थात् (१) √गुप् (गोपने) धातु से जो 'सन्' प्रत्यय होगा, वह निन्दा अर्थ में होगा :– जुगुप्सते । (२) √तिज् निशाने धातुसे 'क्षमा' अर्थ में 'सन्' होगा :– तितिक्षते । (३) √कित निवासे धातु से 'व्याधिप्रतीकार' अर्थ में 'सन्' प्रत्यय होगा :– चिकित्सते ।

(३) वार्त्तिककार के द्वारा जो तीसरे प्रकार के अनुक्तचिन्ता–प्रवर्तक वार्त्तिक लिखे गये है, वह निम्नोक्त है :– *हेतौ । २–३–२३* सूत्र से निर्व्यापार 'हेतु' वाचक शब्द से तृतीया विभक्ति होती है । यथा – दण्डेन घटः । विद्यया यशः । इत्यादि ॥ इस पर वार्त्तिककार कहते है कि – *अशिष्टव्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे*

तृतीया ★ ॥[14] अर्थात् √दा धातु के प्रयोग में, जब अशिष्ट–व्यवहार द्योतित करने की इच्छा हो तब चतुर्थी विभक्ति के अर्थ में तृतीया विभक्ति होती है :– यथा – दास्या संयच्छते कामुकः । यहाँ वक्ताने 'दास्यै' के स्थान पर, तृतीया (दास्या) का प्रयोग करके अशिष्ट–अधर्मयुक्त व्यवहार की और श्रोता का ध्यान आकृष्ट किया है । इस तरह वक्ता–श्रोता के सम्भाषण सन्दर्भ को ध्यान में रखकर जब किसी विशेष भाषाभिव्यक्ति का उल्लेख करना जरूरी होता है, तो वह कार्य वार्त्तिककार के द्वारा निर्दिष्ट किये जाते हैं ।

इन त्रिविध 'अनुक्तचिन्ता–प्रवर्तक' वार्त्तिकों में से, जहाँ पर सम्भाषण–सन्दर्भों का उल्लेख किया गया है, उसका अब विशेष रूप से अध्ययन प्रस्तुत किया जायेगा ॥

2.1 वार्त्तिकों में सम्भाषण सन्दर्भों का उल्लेख :

सूत्रकार पाणिनि ने जहाँ एक प्रत्यय से केवल व्याकरणिक अर्थ का विधान किया है, वहाँ कात्यायन ने वक्ता–श्रोता के बीच का विशेष सम्भाषण–सन्दर्भ ध्यान में लेकर कदाचित् विशिष्यर्थ की प्रतीति उद्भासित होती हुई भी देखी है । और उसे वार्त्तिकवचन में शब्दबद्ध भी की है । उदाहरण के लिए –

(१) *परोक्षे लिट् । ३–१–११५* सूत्र से परोक्ष भूतकाल अर्थ में लिट् लकार का विधान किया गया है । यथा युधिष्ठिरो नाम राजा **बभूव** । अत्यन्त दूर का जो भूतकाल है अर्थात् हमारे जन्म से पूर्व में जो घटना घटित हो चूकी है, उसके लिए हम लिट् लकार का प्रयोग कर सकते है । परन्तु यहाँ कात्यायन कहते है कि – *परोक्षे लिड् अत्यन्तापह्नवे च । (वा० १)* अर्थात् वक्ता जब कोई बात को संगोपित करना चाहता है; या कोई क्रिया कभी भी घटित ही नहीं हुई है ऐसा प्रदर्शित करना चाहता है, तो वह भी लिट् लकार का प्रयोग कर सकता है । जैसा कि – किं त्वं कलिङ्गेषु प्रस्थितोऽसि ? (क्या आप कभी कलिङ्ग देश में गये है ?) ऐसा प्रश्न पूछे जाने पर, वक्ता इस घटना अपने जीवन काल में कभी घटी ही नहीं है ऐसा अभिव्यक्त करने के लिए लिट् लकार का प्रयोग करता है :– नाहं कलिङ्गान् **जगाम** ॥ यहाँ उत्तमपुरुष (अहम्) के साथ 'जगाम' जैसे परोक्षभूतकाल का प्रयोग क्रिया की अत्यन्त अपह्नुति व्यक्त करता है ॥

---

14. १–३–५५ इत्यत्र महाभाष्यम् ॥ (Vol. I) BORI, p. 284.

इसी दिशा में आगे चलकर भाष्यकार पतञ्जलि ने 'अपरे आहुः' कह कर कोई अन्य वार्त्तिककार का मत भी जोड़ा है कि – *सुप्तमत्तयोरुत्तम इति वक्तव्यम् ।*[15] अर्थात् उत्तमपुरुष के साथ जब लिट् कार का प्रयोग किया जाता है तब, वहाँ वक्ता सुप्त या मत्त अवस्था में बोल रहा है ऐसा सम्भाषण–सन्दर्भ अभिव्यक्त होता है । यथा–सुप्तोऽहं किल विललाप ?! मत्तोऽहं किल विललाप ?! यहाँ चित्तव्याक्षेप की स्थिति प्रकट करने के लिए लिट् का प्रयोग यथार्थ है ।[16]

(२) *लुङ् । ३–२–११०* सूत्र कहता है कि – भूतसामान्य अर्थ में धातु से लुङ् लकार का प्रयोग करना चाहिए । परन्तु यहाँ वार्त्तिककार कात्यायन कहते है कि – ***वसेर्लुङ् रात्रिशेषे । (वा० ३); जागरणसंततौ । (वा० ४) ।।*** अर्थात् कोई व्यक्ति रात्रि के तीनों प्रहर जागरण करके हमारे घर बैठा रहता है (क्षणभर भी सोता नहीं है) । इस सन्दर्भ में यदि हम उसे पूछे कि – किम् अत्र भवान् उषितः ? (क्या आप यहाँ रहे थे ?) । तो वह (जागरणशींल) व्यक्ति कहेगा कि – अहम् अत्र अवात्सम् । (हाँ, में यहाँ रहा हुँ) यहाँ पर गतदिन की = ह्यस्तनभूतकाल की ही बात होने हुए भी 'अवसम्' क्रियापद का प्रयोग नहीं होता है; परन्तु लुङ् लकार का ही (अवात्सम्) प्रयोग होता है । इस अनद्यतन (ह्यस्तन) भूत के सन्दर्भ में भी वक्ता–श्रोता के बीच यदि लुङ् का प्रयोग हो जाता है तो यह बात व्यक्त होती है कि बोलने वाला व्यक्ति रात में सोया ही नहीं है; उसने जाग्रत अवस्था में ही रात बीताई है ।

(३) *अनद्यतने लङ् । ३–२–१११* से अनद्यतन अर्थात् ह्यस्तन भूतकाल अर्थ में लङ् लकार का विधान किया गया है । परन्तु कात्यायन एक विशेष सम्भाषण सन्दर्भ को उजागर करते हुए लिखते है कि – ***परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये*** (लङ् वक्तव्यः) ।

---

15. **व्याकरण–महाभाष्यम्** (Vol. II), BORI, पृ. १२०.

16. **अत्र काशिका** – उत्तमविषयेऽपि चित्तव्याक्षेपात् परोक्षता सम्भवत्येव, तद्यथा–सुप्तोऽहं किल विललाप । **(अत्र पदमञ्जरी–)** मदस्वप्नादिभिश्चिते व्याक्षिप्ते भवति वै कश्चित्स्वकृतमेव न जानाति, पश्चादेव त्वया कृतमिति पार्श्वस्थेभ्यः श्रुत्वा प्रयुंक्ते सुप्तोऽहं किल विललाप इति । किल इति अज्ञानं सूचयति ।। **काशिका** (न्याय–पदमञ्जरी सहिता), सं. द्वारिकादासशास्त्री एवं कालिकाप्रसाद शुक्लः, प्राच्यभारतीप्रकाशन, वाराणसी, १९६५ (द्वितीयो भागः), पृ. ६३०.

(वा० २) अर्थात् लोकसमूह के लिए जो घटना प्रत्यक्ष नहीं है; परन्तु लोक में विज्ञात तो है ही । अब ऐसी कोई घटना को प्रत्यक्ष देखनेवाला वयोवृद्ध आदमी लङ् लकार का प्रयोग कर सकता है । यवनः साकेतम् **अरुणत्** । कोई वयोवृद्ध ने यह घटना अपने आयुषकाल में कदाचित् प्रत्यक्ष रूप से देखी थी, लेकिन स्मरणपथ में यह बात इतनी प्रकट है कि मानो वह घटना कल ही (ह्यस्तनभूतकाल में ही) घटी है । तो (लुङ् के स्थान पर) लङ् लकार का प्रयोग करता है ॥ भाष्यकार ने यहाँ प्रत्युदाहरण के रूप में कहा है कि – वाक्यप्रयोक्ता वयोवृद्ध ने जब कोई घटना अपने आयुषकाल में देखी नहीं है, तो वह लङ् (या लुङ्) का प्रयोग नहीं कर सकता है । वहाँ तो परोक्ष भूतकाल का, अर्थात् लिट् का ही प्रयोग करना पड़ेगा । यथा – कंसं **जघान** किल वासुदेवः । = वासुदेव कृष्णने कंस को मारा था ॥

(४) ***भूते । ३–२–८४*** सूत्र के अधिकार में ***कर्मणि हनः । ३–२–८६*** सूत्र से कहा जाता है कि – कर्मवाचक शब्द उपपद में रहते √हन् धातु से, 'भूतकाल' अर्थ में /–णिनि/ प्रत्यय होता है । यथा – पितृव्यघाती । मातुलघाती । (= चाचा को, या मातुल का घात करनेवाला) ॥ परन्तु यहाँ पर काशिककार एक वार्त्तिक प्रस्तुत करते है :– ***कुत्सितग्रहणं कर्तव्यम्*** ★ । अर्थात् वक्ता जब श्रोता को यह सूचित करना चाहता है कि "अमुक आदमीने कुत्सित कर्म किया है" तब हि (सूत्रकारोक्त) /–णिनि/ प्रत्यय का प्रयोग करना चाहिए । अन्यथा (याने जब कुत्सा प्रदर्शित नहीं करनी है तब) तो निष्ठान्त प्रयोग ही करना चाहिए । यथा – चौरं हतवान् नगररक्षकः । (= नगररक्षक ने चौर को मार डाला ।) यहाँ पर, वक्ता–श्रोता के सम्भाषण सन्दर्भ में कुत्सा–प्रदर्शन अभीष्ट है कि नहीं इसको ध्यान में रखते हुए /–णिनि/ अथवा /–क्त–क्तवतु/ प्रत्यय का चयन किया जाता है ।

(४) ***धातोः कर्मणः समानकर्तृकाद् इच्छायां वा । ३–१–७*** सूत्र से इच्छा क्रिया के कर्मभूत धातु से परे /–सन्/ प्रत्यय होता है, यदि दोनों क्रिया समानकर्तृक हो तो । यथा – देवदत्तः कर्तुम् इच्छति → = देवदत्तः चिकीर्षति । इस इच्छादर्शक /–सन्/ प्रत्यय के विषय में कात्यायन कहते है कि – ***आशङ्कायाम् अचेतनेषु उपसंख्यानम् ।*** (वा० १२) अर्थात् वक्ता जब किसी क्रिया के विषय में आशङ्का व्यक्त करना चाहता है, तो वहाँ पर भी यह /–सन्/ प्रत्यय प्रवृत्त किया जाता है । यथा – (१) आशङ्के पतिष्यति नद्याः कूलम् → **पिपतिषति** कूलम् । नदी में बाढ़ को देखकर मुझे आशङ्का होती है कि शायद

यह नदी का तट टूट जायेगा । यहाँ पर "पिपतिषति" क्रियापद में से 'इच्छा' रूप अर्थ व्यक्त नहीं होता है । परन्तु 'आशङ्का' रूप अर्थ प्रकट हो रहा है । इसी तरह से – अयं रुग्णः श्वा मुमूर्षति । "मुझे लगता है कि यह रोगी शायद कल मर जायेगा ।" जब वक्ता–श्रोता के बीच में आशङ्का का सम्भाषण–सन्दर्भ होता है, तो वह /–सन्/ प्रत्ययं का प्रयोग इस विशिष्ट अर्थ में करता है ॥

(५) *हेतुमति । ३–१–२६* सूत्र से प्रयोजक ('हेतु') कर्ता के प्रेरणा रूप व्यापार को प्रकट करने के लिए, धातु से परे णिच् प्रत्यय का विधान किया गया है । यथा – देवदत्तः यज्ञदत्तेन कटं कारयति । ओदनं पाचयति । इत्यादि ॥ परन्तु कात्यायन कहते है कि –

आख्यानात् कृतस्तदाचष्ट इति कृल्लुक् प्रकृतिप्रत्यापत्तिः प्रकृतिवच्च कारकम् (वा० ६)

अर्थात् आख्यान वाचक कृदन्त शब्द से (भी) 'णिच्' प्रत्यय होता है; "तदाचष्टे" ऐसे अर्थ जो अभिव्यक्त करने के लिए । यथा – (१) कंसवधम् आचष्टे → कंसं घातयति । (२) बलिबन्धम् आचष्टे → बलिं बन्धयति ॥ यहाँ पर जो सम्भाषण–सन्दर्भ है वह इस प्रकार का है :– कौई पौराणिक कथाकार जनसमुदाय के समक्ष बैठकर कृष्ण के द्वारा मातुल कंस का वध किस तरह किया गया था ? इसका पुराणोक्त आख्यान कह रहा है । कथा संकीर्तन के प्रसङ्ग में वह इतना ओतप्रोत है, भावावेश में है कि उस पौराणिक को देखकर एक वक्ता दूसरे श्रोता को कहता है कि – 'अयं कंसं घातयति ।' यहाँ पर वास्तव में पौराणिक व्यक्ति कंस का घात नहीं करता है; वह तो केवल कंसवध का आख्यान सुना रहा है । अर्थात् यहाँ 'घातयति' ऐसा णिजन्त (प्रेरक) प्रयोग एक विशिष्ट सम्भाषण सन्दर्भ को उजागर करने के लिए प्रयुक्त किया गया है ॥

(६) *अनद्यतने लुट् । ३–३–१५* से अनद्यतन भविष्यत् काल अर्थ में लुट् लकार का प्रयोग होता है । यथा – श्वो भोक्ताऽयं ब्राह्मणः । (यह ब्राह्मण कल भोजन करनेवाला है ।) श्वो गन्ताऽयं परिव्राजकः ॥ परन्तु कात्यायन कहते हैं कि – *परिदेवने श्वस्तनी भविष्यन्त्यर्थे ।* (वा० १) अर्थात् सामान्य भविष्यत् कालं के अर्थ में श्वस्तनी का (= लुट् लकार का) प्रयोग होता है, जब परिदेवना व्यक्त करने का अवसर हो तब ॥ यथा – इयं नु कदा गन्ता, या एवं पादौ निदधाति । कोई विलासवती युवती अपनी लीलापूर्वक चल रही है; (जिस में कोई वेग ही नहीं है) । उसे देखकर उसकी सास कहेगी कि यह कब अपने लक्ष्य स्थान

पर पहुँचेगी; यदि ऐसे ही मन्थर गति से पाद रखती रहेगी तो ? – तो यहाँ 'गमिष्यति' (= लृट्) के स्थान पर **गन्ता** (= 'लुट्') का प्रयोग करके वक्ता परिदेवना (= एक प्रकार का विषाद या शिकायत) का भाव व्यक्त करता है ॥

2.2 सामासिक–प्रयोगों में सम्भाषण सन्दर्भ :

कात्यायन ने भाषा में कतिपय ऐसे भी स्थान देखे हैं कि जहाँ विशिष्ट विभक्ति–प्रयोग के साथ एक निश्चित सम्भाषण–सन्दर्भ जुड़ा हुआ रहता है । यथा –

(१) ***षष्ठ्या आक्रोशे । ६–३–२१*** सूत्र में पाणिनि ने ही कहा है कि वाग्व्यवहारमें आक्रोश व्यक्त करना हो तो, उत्तरपद पर में रहे तब, पूर्वपद में आयी हुई षष्ठी विभक्ति का अलुक् (समास) होता है । उदाहरण के लिए – चौरस्य कुलम् । दास्याः पुत्रः ।

यहाँ पर कात्यायन ने एक वार्त्तिक प्रस्तुत किया है :– ***देवानांप्रिय इति च । (वा० ३)*** इस वार्त्तिक के पीछे कुछ इतिहास छुपा हुआ है । सम्राट् अशोक ने बौद्ध धर्म का स्वीकार करके सारे भारतवर्ष में अनेक शिलालेखा उत्कीर्ण करवाये थे । इन पर लिखा था कि – देवानां प्रियः प्रियदर्शी राजा आज्ञापयति..... [देवों के प्रिय, प्रियदर्शी राजा अशोक की आज्ञा है कि उसके राज्य में किसी को हिंसा या मद्यपान नहीं करना है इत्यादि ॥] अर्थात् सम्राट् अशोक ने अपने नाम के पूर्व में 'देवानां प्रियः' ऐसा एक विशेषण जोड़ दिया था । परन्तु उसने ब्राह्मणधर्म छोड़ कर, बौद्ध धर्म का अवलम्बन किया था । अतः इस के द्वेष में ब्राह्मणसंस्कृति के अन्दर यह 'देवानां प्रियः' शब्द एक प्रकार के आक्रोश में या व्यङ्ग्य में प्रयुक्त होने लगा था । अतः कात्यायन ने उपर्युक्त वार्तिक से इस शब्द को ***षष्ठ्या आक्रोशे । ६–३–२१*** सूत्र के अन्तर्गत षष्ठी अलुक् के विषय में स्थिर कर दिया । मूलतः तो यह शब्द आक्रोश व्यक्त नहीं करना था । 'देवप्रियः' जैसा सामासिक शब्द और 'देवानां प्रियः' जैसा विग्रह वाक्य होनों ही एक साधु समान अर्थ में प्रचलित था । परन्तु कालान्तर में ब्राह्मणसंस्कृति और बौद्धसंस्कृति के बीच में विरोध हो जाने के बाद [और सम्राट् अशोक ने अपने लिए यह विशेषण का प्रयोग व्यापक रूप से शुरू किया तो] पूर्वोक्त वार्त्तिक से यह स्पष्ट किया गया कि 'देवानां प्रियः' जैसा षष्ठी अलुक् समास आक्रोश, निन्दा जैसे अर्थ में प्रचलन में आ गया है; अलबत्त ब्राह्मणसंस्कृति में ![17] यह विरोध जैसे जैसे तीव्र होता गया है वैसे

17. बाणभट्ट (६५० A.D.)ने तो इस शब्द का साधु अर्थ में ही प्रयोग किया है क्योंकि सम्राट् हर्षवर्धन ने बौद्धधर्म को भी राज्याश्रय दिया था । द्रष्टव्यः **हर्षचरितम्**, सं. पी. वी. काणे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1986, (p. 11, 129)

मुखर रूप से यह बात शब्दबद्ध की गई है । जैसा कि – भट्टोजि दीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी में **"देवानां प्रिय इति च मूर्खे"** इस तरह का वार्त्तिकवचन प्रस्तुत किया है ।[18]

(२) *अल्पाच्तरम् । २–२–३४* सूत्र से कहा जाता है कि द्वन्द्व समास में जो अल्प अच् (स्वर) वाला शब्द होगा उसका पूर्वनिपात होता है । यथा – शिवकेशवौ ॥ शंखदुन्दुभि-वीणानाम् इत्यादि । परन्तु इस सूत्र पर कात्यायन कहते हैं कि – *अभ्यर्हितम् । (वा० ४)* अर्थात् द्वन्द्व समास में जुड़ने वाले शब्दों में से, पूजनीय या महत्त्वपूर्ण शब्द होगा, उस शब्द का पूर्वनिपात होता है । यथा – (१) माता च पिता च इति → मातापितरौ । (२) श्रद्धा च मेधा च → इति श्रद्धामेधे ॥ यहाँ पर वक्ता अपने लिए दोनों में से कौन अभ्यर्हित–पूजनीय–है यह व्यक्त करने के लिए जिस शब्द का पूर्वनिपात करता है, वह ध्यानास्पद बन जाता है ।

2.3 विभक्ति प्रयोग में सम्भाषण–सन्दर्भ :

पाणिनि ने *दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे । १–३–५५* सूत्र से कहा है कि – तृतीया विभक्ति के साथ प्रयुक्त हुआ √ दाण् दाने धातु से परमें आत्मनेपद होता है; यदि वह तृतीया चतुर्थीविभक्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुई हो तो ॥ अब यहाँ प्रश्न होता है कि ऐसा कौन सा स्थान होगा जहाँ चतुर्थी के अर्थ में तृतीया प्रवृत्त हुई हो ? तो भाष्यकार कहते है कि – अशिष्टव्यवहारेऽनेन तृतीया च विधीयते आत्मनेपदं च ।[19] अशिष्ट व्यवहार व्यक्त करने के लिए चतुर्थी के अर्थ में तृतीया होती है; और 'सम्' उपसर्ग पूर्वक √दाण् धातु को आत्मनेपद के प्रत्यय लगते है । यथा – दास्या संयच्छते कामुकः । यहाँ से सूचन ले कर काशिकाकारने वार्त्तिक बनाया है : ***अशिष्टव्यवहारे तृतीया चतुर्थ्यर्थे भवतीति वक्तव्यम् ।*** वक्ता जब दासी और कामुक का व्यवहार धर्मशास्त्र को मान्य नहीं है, ऐसा व्यक्त करना चाहता है तो वह चतुर्थी के स्थान पर तृतीया का प्रयोग करता है और क्रियापद में आत्मनेपद रखता है । परन्तु वह जब श्रोता को कोई पति–पत्नी का धर्म्य व्यवहार बताना चाहता है, तब चतुर्थी के स्थान में चतुर्थी का ही, और क्रियापद में परस्मैपद संज्ञक प्रत्यय का प्रयोग करता है । यथा – दासः दास्यै धनं संयच्छति ॥

---

18. ६–३–२१ इत्यत्र वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी । सं. वासुदेव पणशीकर; निर्णय सागर प्रेस, मुंबई, 1929, (p. 213).

19. १–३–५५ इत्यत्र महाभाष्यम् (Vol. I), BORI, p. 284.

इसी तरह से, *यस्य च भावेन भावलक्षणम् । २–३–३७* सूत्र से भावलक्षणा (सति) सप्तमी विभक्ति का विधान किया गया है। इस सूत्र के सन्दर्भ में *सप्तम्यधिकरणे च । २–३–३६* सूत्र के भाष्य में तीन वार्त्तिक लिखे हैं :– (१) कारकार्हाणां च कारकत्वे। (वा० ३); (२) अकारकार्हाणां चाकारकत्वे। (वा० ४) एवं (३) तद्विपर्यासे च। (वा० ५) ॥ [सिद्धान्तकौमुदीकारने इन तीनों वार्त्तिकों को मिला कर एक ही वार्त्तिक प्रस्तुत किया है :– ★ *अर्हाणां कर्तृत्वेऽनर्हाणाम् अकर्तृत्वे तद्वैपरीत्ये च ।* ★] जिसके परिणाम स्वरूप तीन प्रकार के सम्भाषण सन्दर्भों में '(भावलक्षणा) सप्तमी' के प्रयोग प्राप्त होते हैं। यथा –

(१) ऋद्धेषु भुञ्जानेषु दरिद्रा आसते ।
ब्राह्मणेषु तरत्सु वृषला आसते ।

यहाँ पर सम्मान्य व्यक्तिओं का जब कर्तृत्व/कारकत्व होता है; तब अनर्ह व्यक्तिओं का अक्रियाशीलत्व दिखाई पडता है।

(२) दरिद्रेषु आसीनेषु ऋद्धा भुञ्जते ।
वृषलेषु आसीनेषु ब्राह्मणास्तरन्ति ।

यहाँ पर अयोग्य व्यक्तिओं के अकर्तृत्व की स्थिति में योग्य व्यक्तिओं की क्रियाशीलता दिखाई पडती है।

(३) ऋद्धेषु आसीनेषु दरिद्रा भुञ्जते ।
ब्राह्मणेषु आसीनेषु वृषलाः तरन्ति ।

इन उदाहरणों में विपरीत–गति दिखाई दे रही है। अर्थात् सुयोग्य व्यक्तिओं के अक्रियाशीलत्व में, अयोग्य व्यक्तिओं की क्रियाशीलता कही गई है ॥

कात्यायन इन वार्तिकों से जो कहना चाहते है वह सूक्ष्मेक्षिका से आलोचनीय विषय है :–

एक तो, *सप्तमी अधिकरणे च । २–३–३६* के भाष्य में रखे गयें ये वार्त्तिक वास्तव में तो *यस्य च भावेन भावलक्षणम् । २–३–३७* पर होने चाहिए। (शायद इस लिए भट्टोजि दीक्षितने उसको स्थानान्तरित करके – भावलक्षणा सप्तमी के प्रसङ्ग में रख दिये है।) क्योंकि भाष्यकारने जो उदाहरण दिये हैं वह भावलक्षणा सप्तमी के उदाहरण हैं ॥

दूसरा, भावलक्षणा सप्तमी के जो अन्य उदाहरण साहित्य में प्रयुक्त हुए है, वह देखने से ऐसा मालुम पड़ता है कि कात्यायनने जो कहा है उसमें अभी और भी गहराई से सोचने की आवश्यकता है। यथा –

(१) **पश्यत्सु पाण्डुपुत्रेषु, द्रौपद्याः वस्त्राणि अपहृतानि** । यहाँ पर, सुयोग्य पाण्डुपुत्रों की अकर्तृता में, एक अयोग्य दुःशासन की कर्तृता दर्शायी गई है । इस तरह से वार्त्तिककार का कथन सुसंगत तो हो जाता है । परन्तु सूक्ष्मेक्षिका से देखने से मालूम होता है कि यहाँ कार्यकारणभाव का सम्बन्ध तूटता है । अर्थात् सामान्य रूप से नीच अयोग्य दुःशासन की कर्तृता के समय में, सुयोग्य पाण्डुपुत्रों की निष्क्रियता अमान्य है । द्रौपदी के वस्त्राहरण रूप 'कारण' की उपस्थिति में, 'कार्य' का होना, .अर्थात् योग्य व्यक्तिओं का क्रियाशील होना जरूरी था । परन्तु इस कार्यकारणभाव का सम्बन्ध तूटने की स्थिति को वाचा देने के लिए, भावलक्षणा सप्तमी का प्रयोग करना चाहिए – ऐसा वार्त्तिककार का मूलतः आशय होगा ।

इसी तरह से, **कः पौरवे शासति वसुमतीं, शकुन्तलायाम् अविनयम् आचरति** । (अभिज्ञान–शाकुन्तलम् – अङ्क – १) उदाहरण में भी अर्हणीय व्यक्ति (राजा दुष्यन्त) के शासन काल में, भ्रमर रूप अयोग्य व्यक्ति की विनयाचरण रूप क्रिया में अकर्तृता है – ऐसा सोचकर, पूर्वोक्त वार्त्तिक की संगति बिठ़ाई जाती है । परन्तु यदि हम ऐसा कहे कि दुष्यन्त के शासन रूप 'कारण' की उपस्थिति में, भ्रमर के विनीताचरण रूप 'कार्य' की अनिष्पति प्रदर्शित हो रही है । तो यह कहना वधु उचित दिखाई पड़ता है ।

भाषा में अन्य प्रचलित उदाहरण देखें तो (३) **रामे वनं गते, दशरथः प्राणान् तत्याज** । अथवा (४) **भोजे दिवं गते, निरालम्बा सरस्वती** । इन उदाहरणों में दोनों क्रियाओं के बीच कार्यकारणभाव का सम्बन्ध दिखाई पड़ेगा ॥

इन चारों उदाहरणों की चर्चा से निम्नोक्त निष्कर्ष निकाला जा सकता है :– भावलक्षणा सप्तमी का प्रयोग ऐसे सम्भाषण सन्दर्भों में भी किया जाता है कि – जहाँ (क) दो क्रियाओं के बीच में कार्य–कारणभाव व्यंजित करना हो, अथवा (ख) दो क्रियाओं के बीच में कार्यकारणभाव सम्बन्ध तूटता हो ! वार्त्तिककार इस परम सत्य तक तो नहीं पहुँच पाये है, परन्तु इस दिशा में सोचने का प्रारम्भ तो उन्होंने जरूर किया है ॥

2.4 तद्धित प्रत्यय से सम्भाषण–सन्दर्भ :

कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्तरि च्विः । ५–४–५० सूत्र से √कृ, √भू एवं √अस् धातु के योग में, सम्पद्यमान कर्म के कर्ता को द्योतित करने के लिए 'स्वार्थ' में /–च्वि/ प्रत्यय होता है । अर्थात् विकारात्मता को प्राप्त करनेवाली प्रकृति के अर्थ में रहनेवाले विकारवाचक शब्द को 'स्वार्थ' में /–च्वि/ प्रत्यय लगता है ॥ परन्तु यहाँ पर कात्यायन कहते है कि –

★ *च्विविधावभूततद्भावग्रहणम्* ★ (वा० १) "जो प्रकृति पहले ऐसी नहीं थी, परन्तु बाद में ऐसी हो गई है" ऐसा अभिव्यक्त करने के लिए /—च्वि/ प्रत्यय का प्रयोग होता है ॥ (अर्थात् सूत्रकार ने तो मूल में /—च्वि/ प्रत्यय का 'स्वार्थ' में विधान किया था, परन्तु वार्त्तिककारने एक विशेष सम्भाषण सन्दर्भ जोड़ दिया कि 'अभूत–तद्भाव' अर्थ में /—च्वि/ होता है ऐसा कहना चाहिए) । यथा – अशुक्लः शुक्लः संपद्यते, तं करोति इति ⟶ शुक्लीकरोति । अकृष्णः कृष्णः संपद्यते, तं करोति इति ⟶ कृष्णीकरोति ॥

वार्त्तिककार नें /—च्वि/ प्रत्यय का यहाँ जो 'अभूततद्भाव' रूप एक विशिष्ट अर्थ प्रदर्शित किया है, वह सम्भाषण–सन्दर्भ में परिणत होकर जो चमत्कृति उत्पन्न करता है, उसके कतिपय उदाहरण देखेंगे ।

स वेलावप्रवलयां **परिखीकृतसागराम्** ।
अनन्यशासनाम् उर्वीं शशाकैकपुरीम् ॥ – रघुवंशम् (१–३०)

इस श्लोक के 'परिखीकृतसागराम्' शब्द में 'च्वि' का प्रयोग हुआ है । परितः खातं परिखाः दुर्गवेष्टनम् । अपरिखा परिखाः संपद्यमानाः कृताः परिखीकृताः सागरा यस्याः, ताम् उर्वीम् शशाक ।[20] यहाँ पर 'परिखीकृतसागराम्' शब्द में से "सागराः एव परिखाः" ऐसे अभेदारोप का बोध होता है । अर्थात् जो सागर पहले परिखा नहीं थे (अभूत); उसको बाद में परिखा रूप बनाये गये है (= तद्भाव को प्राप्त करवाये है) उसे 'परिखीकृतसागर' कहते है । अब श्लोक का अर्थ ऐसे होगा :– परिखा रूप बनाये गये सागरवाली पृथिवी का दिलीप राजा ने शासन किया था । कहने का तात्पर्यार्थ यह है कि यहाँ 'सागर' एवं 'परिखा' के बीच में 'एव' कार से अभेदरोप नहीं किया गया है; परन्तु /—च्वि/ प्रत्यय से किया गया है । यहाँ 'परिखा' रूप उपमान के उपर 'सागर' रूप उपमेय का अभेदारोप होने के कारण रूपकालङ्कार की प्रतीति होती है ।

एक दूसरा उदाहरण देखते है :–

अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं **पुत्रीकृतोऽसौ** वृषभध्वजेन ।
यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः ॥ – **रघुवंशम् (१–३६)**

---

20. रघुवंशम् (मल्लिनाथटीकया सहितम्), सर्गः १, श्लो०–३० The News Printing Press, Bombay, 1927, (p. 8).

यहाँ कवि कालिदास कहते है कि – वृषभध्वज (शंकर)ने देवदारु वृक्ष को मानो पुत्र ही बनाया है । जो वृक्ष वृक्ष ही था, पुत्र नहीं था । उस वृक्ष को शंकरने पुत्र ही मान लिया है – इस अर्थ को व्यक्त करने के लिए यहाँ /–च्वि/ प्रत्यय का प्रयोग किया गया है । दूसरे शब्दों में कहे तो – यहाँ देवदारु वृक्ष रूप उपमेय के उपर, पुत्ररूप उपमान की सम्भावना की गई है । अतः यह उत्प्रेक्षालङ्कार का भी उदाहरण बनता है । वार्त्तिककार ने /–च्वि/ से 'अभूततद्भाव' रूप अर्थ विलसित होता है – ऐसा अर्थदर्शन प्राप्त किया है । परन्तु उसका जब व्यापक रूप से सम्भाषण सन्दर्भ में प्रयोग होता है तब रूपक के साथ साथ उत्प्रेक्षा अलङ्कार की अर्थच्छाया भी प्रकट होती है – यह विशेष ध्यातव्य है ॥

3.0 उपसंहार :

उपर्युक्त चर्चा से यह निष्कर्ष निकलता है कि अनुक्तचिन्ता–प्रवर्तक वार्त्तिक में से कतिपय ऐसे भी है कि जिस में कात्यायन ने वक्ता–एवं श्रोता का सम्भाषण–सन्दर्भ ध्यान में लेते हुए तो विशिष्टार्थ की प्रतीति होती है उसका निर्देश किया है । एवं वक्ता अपने मनोगत विशिष्ट भावों को व्यक्त करने के लिए जो विशिष्ट लकार, विभक्ति या प्रत्ययादि का चयन करता है तो उसको भी व्यर्त्तिककार ने शब्दबद्ध किया है । यद्यपि वार्त्तिककार कात्यायन ने इस तरह के सम्भाषण–सन्दर्भ का उल्लेख पाणिनि से प्रेरित होकर ही किया है । परन्तु वार्त्तिककार की इस महनीय सेवा का आधुनिक अध्येताओं ने निर्देश नहीं किया है । वर्णनात्मक प्रकार के इस व्याकरण में सम्भाषण सन्दर्भों का कहाँ कहाँ पर सूत्रकार एवं वार्त्तिककार के द्वारा निर्देश किया गया है ? इसका अध्ययन करने से ही वार्त्तिककार के कार्य का योग्य मूल्यांकन हो सकेगा । अन्यथा गोलडस्टुकर की तरह कात्यायन को पाणिनि का विरोधी, या पतञ्जलि को कात्यायन का विरोधी कहने से किसी का भी व्याकरण में क्या अवदान है यह स्पष्ट होनेवाला नहीं है ।

आज हमने जो वार्त्तिक उदाहृत करके अध्ययन प्रस्तुत किया है उससे यह स्पष्ट हुआ होगा कि – वार्त्तिककार कात्यायन ने अपने वार्त्तिकों में विशेष रूप से जो सम्भाषण सन्दर्भों का उल्लेख किया है वह वर्णनात्मक प्रकार के व्याकरण की पूर्ति का ही उपक्रम है और वही कार्य कात्यायन का विशेष स्मरणीय अवदान मानना चाहिए ॥

सन्दर्भ ग्रन्थ–सूचि

काशिका (न्याय–पदमञ्जरी सहिता), सं. द्वारिकादास शास्त्री एवं कालिकाप्रसाद शुक्ल, प्रका० प्राच्य भारती प्रकाशन (तारा पब्लीकेशन) वाराणसी, (भाग–१ से ६), १९६५ से १९६७.

निरुक्तम् (१–६) (स्कन्दस्वामिन्–महेश्वर की टीका साथ), सं. लक्ष्मण सरूप, प्रका० महेरचंद लछमनदास, दिल्ली, १९८२.

निरुक्तम् (द्वितीयो भागः), (दुर्गस्य टीकयासहितम्) गुरुमण्डल ग्रन्थमाला–१०, सं. मनसुखराय मोर, कलकत्ता, १९५२.

वाक्यपदीयम् (प्रथमो भागः) स्वोपज्ञ–अम्बाकर्त्री सहितम्) सं. रघुनाथ शर्मा, प्रका० सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालयः, वाराणसी, १९७६.

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, सं. वासुदेव पणशीकर, निर्णयसागर प्रेस, मुंबई, १९२९.

वैयाकरण–सिद्धान्त–कौमुदी (१–४) हिन्दी व्याख्याकार सं. पं. श्री बालकृष्ण पञ्चोली, प्रका० चौखम्बा संस्कृत सीरिझ ओफिस, वाराणसी, १९६९.

व्याकरण–महाभाष्यम् – Ed. F. Kielhorn B.O.R. Institute, Pune, Vol. I (1962), Vol. II (1965), Vol. III (1972).

व्याकरण–महाभाष्यम् (प्रदीपोद्द्योतसहितम्) प्रका० मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथमो भागः (१९६७), द्वितीयो भागः (१९६७); तृतीयो भागः (१९६७).

रघुवंशम् (मल्लिनाथटीकया समेतम्) सं. वेंकटेश शास्त्री, प्रका० The News Printing Press, Bombay, 1927.

हर्षचरितम् (१–८), सं. पी. वी. काणे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1986.

Course in General Linguistics by Ferdinand de Saussure, (1857–1913).

Indian Linguistics (Vol. 36) Ed. Ashok R. Kelkar, Deccan College, Puna, 1975.

Indian Linguistics (Vol. 40) Pune, 1979.

LINGUISTICS, Ed. by Archibad A. Hill, Voice of America Forum Serices, Washington, 1978.

PĀṆINI–AS A VARIATIONIST, by Paul Kiparsky, University of Poona, Pune, 1980.

PĀṆINI–A Survey of Research, by George Cardona, Pub. Motilal Banarasidass, Delhi, 1980.

PĀṆINI : His place in Sanskrit Literature by Theodor Goldstucker, Pub. Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi, 1965.

Pāṇiniyan Studies (Prof. S. D. Joshi Felicitation Volume), Ed. M. M. Deshpande & Saroja Bhate, Pub. Center for South & Southest Asian Studies, Univ. of Michigan, USA, (No. 37), 1991.

Samarthāhnika (Vyākaraṇa Mahābhāṣya with English Translation & Notes by Prof. S. D. Joshi, University of Poona, Pune, 1968.

The Cambridge Encyclopedia of Language, Ed. by Devid Crystal, 1992.